हिंदी आलोचना का अध्ययन
(1980 से 2010 तक)

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़ की पीएच. डी. (हिंदी) की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबंध

शोध निर्देशक:

डॉ. सिद्धार्थ शंकर राय

सहायक प्राध्यापक
हिंदी एवं भारतीय भाषा विभाग
हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय
महेंद्रगढ़ - 123031 (हरियाणा)

शोधार्थी:

निर्मला

अनुक्रमांक: 1501

हिंदी एवं भारतीय भाषा विभाग
भाषा, भाषाविज्ञान, संस्कृति एवं विरासत संस्थान
हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़ - 123031

पंजीकरण संख्या - CUH 32/2012 वर्ष -2016

घोषणा - पत्र

मैं, **निर्मला** यह घोषणा करती हूं कि मैंने **'हिंदी आलोचना का अध्ययन (1980 से 2010 तक)'** विषयक शोध - प्रबंध **डॉ. सिद्धार्थ शंकर राय** के निर्देशन में स्वयं लिखा है। इसकी सामग्री शोधपरक एवं मौलिक है। मेरी जानकारी में हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय तथा अन्य शैक्षणिक संस्थानों में इससे पूर्व इस विषय पर कोई शोधकार्य नहीं हुआ है। मैं इसे हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़ की पीएच. डी. (हिंदी) की उपाधि हेतु मूल्यांकनार्थ प्रस्तुत करती हूं।

शोधार्थी

दिनांक **(निर्मला)**

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि शोधार्थी **निर्मला** ने **'हिंदी आलोचना का अध्ययन (1980 से 2010 तक)'** विषयक शोध - प्रबंध मेरे निर्देशन में स्वयं लिखा है। इसकी सामग्री शोधपरक एवं मौलिक है। मेरी जानकारी में हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय तथा अन्य शैक्षणिक संस्थानों में इससे पूर्व इस विषय पर कोई शोधकार्य नहीं हुआ है। मैं इसे हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़ की पीएच. डी. (हिंदी) की उपाधि हेतु मूल्यांकनार्थ प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूं।

दिनांक

(डा. सिद्धार्थ शंकर राय)
सहायक प्राध्यापक
हिंदी एवं भारतीय भाषा विभाग
हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय
महेंद्रगढ़ - 123031 (हरियाणा)

भूमिका

1980 के बाद विश्व परिदृश्य में तेजी से बदलाव हुए। राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तनों के साथ - साथ सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परिवर्तन हुए। विकास तथा आधुनिकता का हवाला देकर आमजन को हाशिए पर धकेला जाने लगा। भूमण्डलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण के चलते उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हुआ। स्त्री का वस्तुकरण हुआ, दलित पर हमले बढ़े। आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का पंजा चलने लगा, किसानों की जमीनें छीनकर उन्हें बेदखल होने पर मजबूर किया गया। बाजार के बढ़ते प्रभाव ने उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया, जिसने मनुष्य को मशीन में तब्दील कर दिया। विकास की भूखी दौड़ में पर्यावरण का अत्यधिक ह्रास किया गया। धर्म तथा राष्ट्रवाद की आड़ में साम्प्रदायिकता का विस्तार हुआ। ये सभी मुद्दे विमर्श के केंद्र में आए जिसने साहित्य को प्रभावित किया। अपने समय के साहित्य की नब्ज पहचानते हुए आलोचकों ने बेबाक तरीके से अपनी राय रखी। स्त्री, दलित, आदिवासी, किसान के पक्ष में खड़ी होकर आलोचना ने बाजारवाद तथा साम्प्रदायिकता का डटकर विरोध किया तो पर्यावरण ह्रास के प्रति चिंता जाहिर की।

रचनात्मक साहित्य पढ़ने में मेरी रुचि शुरु से ही रही। विश्वविद्यालय में दाखिले के बाद सक्रिय साहित्यकर्मियों, लेखकों - विचारकों के संपर्क से वैचारिक साहित्य में रुचि जगी। बचपन की आदतों (जिसमें हर चीज के बारे में जानना तथा बताना शामिल था) के कारण आलोचनात्मक साहित्य के प्रति रुझान बढ़ा। इसी कारण एम. फिल. का शोधकार्य हिंदी के प्रखर आलोचक 'डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल की आलोचना - दृष्टि' पर किया। हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय में दाखिले के बाद आलोचना पर ही पीएच. डी. का शोधकार्य करने का मन बनाया, जिसका एक कारण समकालीन विमर्शों के बारे में जानना तथा उनको अपने शोध में शामिल करना रहा। डा. कमलानंद झा ने मेरी रुचि को ध्यान में रखते हुए 'हिंदी आलोचना का अध्ययन (1980 से 2010 तक)' विषय सुझाया।

शोध - प्रबंध को अध्ययन की दृष्टि से पांच अध्यायों में बांटा गया है। पहले अध्याय 'आलोचना की अवधारणा' में आलोचना के अर्थ, परिभाषा स्पष्ट करते हुए आलोचना प्रक्रिया को

समझा गया है, रचना तथा आलोचना का अंतःसंबंध तथा आपसी प्रभाव को विस्तार से व्यक्त किया गया है। आलोचना के लिए विचारधारा के महत्व तथा उसकी आवश्यकता पर विचार किया गया है। आलोचना के प्रमुख सिद्धांत एवं पद्धतियां जिनके आधार पर आलोचना होती है, का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

दूसरे अध्याय 'आलोचना परम्परा और प्रमुख हिंदी आलोचक' में आलोचना के उद्भव तथा विकास को समझने के लिए हिंदी के प्रमुख आलोचकों की कृतियों, साहित्य सिद्धांतों का विवेचन किया गया है।

तीसरे अध्याय 'आपातकालोत्तर आलोचनाः स्त्री, दलित एवं आदिवासी विमर्श' में 1980 के बाद उभरे विमर्शों स्त्री, दलित तथा आदिवासी के संकट तथा संघर्षों को समझा गया है। साहित्य और आलोचना में उनकी उपस्थिति को पहचानकर, प्रमुख मुद्दों पर चर्चा की गई है।

चौथे अध्याय 'आपातकालोत्तर आलोचनाः किसान, बाजारवाद, पर्यावरण एवं साम्प्रदायिकता संबंधी विमर्श' में नए उभरते विमर्शों किसान, बाजारवाद, पर्यावरण तथा साम्प्रदायिकता के संकटों तथा चिंता की साहित्य में उपस्थिति तथा उस पर आलोचना की भूमिका को रेखांकित किया गया है।

पांचवे अध्याय 'आपातकालोत्तर आलोचना की उपलब्धियां और सीमाएं' में 1980 के बाद हिंदी आलोचना में आए बदलावों को समझने की कोशिश की गई है। अंत में उपसंहार में शोध विषय का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया गया है।

शोध - प्रबंध की पूर्णता का श्रेय मैं अपने शोध - निर्देशक डा. सिद्धार्थ शंकर राय को देना चाहूंगी, जिन्होंने शोध सामग्री उपलब्ध करवाने, शंकाओं को दूर करने तथा स्वतंत्र शोध करने में मुझे पूर्ण सहयोग दिया। लगातार प्रेरणा देने और आत्मविश्वास जगाने में उनका योगदान अप्रतिम है।

विभाग के सहायक प्राध्यपकों डा. अरविंद तेजावत तथा डा. अमित मनोज का मैं आभार व्यक्त करती हूं, जिन्होंने हमेशा सकारात्मक ऊर्जा तथा शोध संबंधी सुझाव दिए।

मैं अपने मां - पापा एवं परिवारजनों की आभारी हूं जिन्होंने शोध - कार्य के दौरान मुझे सारी जिम्मेदारियों से मुक्त रखा। मैं अपने साथी मलखान सिंह तथा मित्रों की धन्यवादी हूं जिनसे हमेशा जीवंत सहयोग एवं उत्साह मिलता रहा।

(निर्मला)

विषयानुक्रमणिका

अध्याय.1. आलोचना की अवधारण **1-32**

1.1 आलोचना : अर्थ एवं परिभाषा

1.2 आलोचना प्रक्रिया

1.3 रचना और आलोचना का अन्तःसम्बन्ध

1.4 आलोचना और विचारधारा

1.5 आलोचनाः प्रमुख सिद्धान्त एवं पद्धतियां

अध्याय.2. आलोचना परम्परा और प्रमुख हिन्दी आलोचक **33-71**

2.1 आलोचना परम्परा

2.2 प्रमुख हिंदी आलोचक

अध्याय.3 आपातकालोत्तर आलोचनाः स्त्री, दलित एवं आदिवासी विमर्श **72-115**

3.1 स्त्री विमर्श

3.2 दलित विमर्श

3.3 आदिवासी विमर्श

अध्याय. 4 आपातकालोत्तर आलोचनाः किसान, बाजार, साम्प्रदायिकता एवं पर्यावरण संबंधी विमर्श **116-165**

4.1 किसान विमर्श

4.2 बाजारवाद

4.3 पर्यावरण विमर्श

4.4 साम्प्रदायिकता

अध्याय.5 उत्तरशती की आलोचना की उपलब्धियां और सीमाएं **166-180**

5.1 तात्कालिकता का प्रभाव

5.2 प्रतिमानीकरण की समस्या

5.3 विचारधारा का विलोपीकरण

5.4 प्रतिरोध का बदलता स्वरूप

5.5 संस्कृतिमूलक चिंतन/ बहुसांस्कृतिकता

5.6 भाषायी चिंतन

5.7 नवमार्क्सवादी चिंतन

उपसंहार **181-186**

संदर्भ ग्रंथ – सूची **187-202**

पहला अध्याय

आलोचना की अवधारणा

आलोचना का अर्थ है किसी भी वस्तु या कृति का समग्र मूल्यांकन। आलोचना साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा है। ग्रंथों की टीका - टिप्पणी तथा कृतियों की भूमिका के रूप में रचित समीक्षा का आधुनिक काल में पूर्ण विकास हुआ तथा आलोचना स्वतंत्र विधा के तौर पर स्थापित हुई। विकास की इस यात्रा में आलोचना विभिन्न पड़ावों से होकर गुजरी है। आलोचना की प्रक्रिया, परम्परा, पद्धतियां आदि को समझने से पहले आलोचना के अर्थ एवं परिभाषा को समझना आवश्यक है।

1.1 आलोचनाः अर्थ एवं परिभाषा

आलोचना शब्द का संयोजन आ+लो - चनम् से हुआ। लोचनम् लुच धातु से बना है, जिसका अर्थ है देखना। 'आ' प्रत्यय से शब्द संयोजित हुआ - आलोचना। 'आ' का अभिप्राय समन्नात, अतएव आलोचनम् का अर्थ - वस्तु या पदार्थ को चारों ओर से समग्रत: देखना। आलोचना के पर्यायवाची शब्द समीक्षा का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है 'सम्यक निरीक्षण'। आलोचना के पर्यायवाची शब्द हैं - समीक्षा, समालोचना, मीमांसा, अन्वेषण आदि। आरंभिक दौर में आलोचना को समीक्षा कहा जाता था जिसमें कृति के गुण - दोषों का वर्णन ही होता था उसका पूर्ण मूल्यांकन या निर्णय नहीं। किसी कृति या वस्तु की सम्यक व्याख्या, सम्यक मूल्यांकन व निष्पक्ष समीक्षा ही आलोचना है। कृति के संबंधे में बातचीत ही आलोचना है।

विद्वानों ने आलोचना शब्द का निर्माण इसके सरल व सहज रूप के कारण अर्थ के आधार पर किया परन्तु उसकी सीमाएं निर्धारित नहीं की। जैसे - जैसे समाज, संस्कृति, सभ्यता, राजनीति व साहित्य में बदलाव आता गया आलोचना का स्वरूप, क्षेत्र बदलता गया और उसकी परिभाषा भी। भारतेन्दु व महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के आलोचकों की पुस्तकों के शीर्षकों से अनुमान लगाया जा सकता है वे समीक्षा शब्द का ही प्रयोग करते थे। उनकी समीक्षा में कृति के गुण - दोषों पर अधिक ध्यान रहता था, "हिंदी आलोचना के आरम्भिक युग में सामान्यतः यह धारणा प्रचलित

थी कि आलोचना का अर्थ कृति विशेष का गुण - दोष विवेचन मात्र है।"[1] समालोचना शब्द का प्रयोग द्विवेदी युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी भी किया लेकिन आलोचना शब्द का प्रयोग बहुत बाद में रामविलास शर्मा व नगेन्द्र ने अपनी पुस्तकों शीर्षकों में किया। समय, परिस्थतियों तथा साहियित्क युगों के साथ - साथ आलोचना का स्वरूप बदलता गया और उसकी परिभाषाएं भी।

'आलोचना' अंग्रेजी के क्रिटिसिज्म का पर्याय है जिसका अर्थ है मूल्यांकन अथवा निर्णय करना। पाश्चात्य समीक्षा में भी समीक्षा व आलोचना शब्दों का विकास हुआ है। अंग्रेजी में अनुमानत: बेकन का 'Advancement of learning (1605)' पहला पाठ है जो ज्ञान की परम्पराओं का जिक्र आलोचनात्मक और पाण्डित्यात्मक के रूप में करता है। बेन जॉनसन अपनी पुस्तक 'Timber or Discoveries (1607)' में विद्वान और उदार आलोचकों से अपील करते हैं, वे अरस्तु को पहला सही आलोचक मानते हैं। आलोचना शब्द का नये अर्थ में प्रयोग करते हुए ड्राइडन ने 1677 में अपनी पुस्तक 'The State of Innocence' की भूमिका में कहा - 'आलोचना जिसकी स्थापना पहले अरस्तु ने की, का मतलब था - परख का मानक या परख की कसौटी'। पॉप ने ड्राइडन की बात का समर्थन किया, उनके अनुसार, "A perfect judge will read each work of it with the same spirit that its author write"[2] I.A. Richard के अनुसार, "To set up as critic Is to set up as a judge of value"[3]

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार, "साहित्य या ललित कलाओं में एक सुन्दर विषय के गुणों एवं मूल्यों का निर्माण करने की कला ही समीक्षा है, इसमें निर्णय की निर्मिति तथा अभिव्यक्ति निहित है।"[4] डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिट्रेचर में शिप्ले के कथन के अनुसार, "कलाकृति के उस संज्ञान मूल्यांकन या सराहना को समीक्षा कहते हैं जो या तो आलोचकों की व्यक्तिगत रुचि के या किन्हीं स्वीकृत सौन्दर्यपरक धारणाओं के अनुसार किया गया हो।"[5]

---

[1] डा. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 67

[2] योगेन्द्र प्रताप सिंह, हिन्दी आलोचना: इतिहास और सिद्धान्त, मैत्रेय पब्लिकेशन, दिल्ली, पृष्ठ - 16

[3] देवीशंकर अवस्थी, आलोचना का द्वन्द्व, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 80

[4] वही, पृष्ठ - 81

[5] वही, पृष्ठ - 81

डा. श्यामसुंदर दास ने साहित्य आलोचना को परोक्षतः जीवन की व्याख्या माना, "यदि साहित्य जीवन की व्याख्या है तो आलोचना उस व्याख्या की व्याख्या है।"[1] आलोचना को जीवन से जोड़ते हुए उन्होंने आलोचना प्रक्रिया की ओर संकेत किया। आलोचक रचना के माध्यम से जीवन तक पहुंचता है। आलोचक के आलोचना - मूल्य असल में उसके जीवन - मूल्य होते हैं। डा. नगेन्द्र ने आलोचना को कला एवं विज्ञान का संयोजन माना है जो ललित साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। स्वाभाविक तौर पर ललित साहित्य में रचनाकार का अपना व्यक्तित्व शामिल होता है।

डा. नामवर सिंह ने आलोचना को सामाजिकता से जोड़कर देखा। उन्होंने आलोचना को सामाजिक नियमों की गतिशीलता की खोज माना, "आलोचना केवल रचना की व्याख्या नहीं है बल्कि गहरे अर्थ में सामाजिक गतिशीलता के उन नियमों की खोज है जो रचना को संचालित और सम्बोधित करते हैं।"[2] आलोचना का काम सिर्फ रचना की व्याख्या करना मात्र नहीं है बल्कि आलोचना साहित्य के साथ - साथ इतिहास और परम्परा की खबर लेती रहती है, जो आलोचना का मुख्य काम है। इतिहास और परम्परा क्योंकि साहित्य को प्रभावित करते हैं इसलिए आलोचक को इतिहास और परम्परा का ज्ञान होना जरुरी है। डा. नामवर सिंह का मानना है, "आलोचना का एक काम है - इतिहास का, परम्परा का मर्म समझना - समझाना और उसे आगे की पीढ़ियों के बीच जीवित रखना।"[3] इतिहास और परम्परा के मर्म के जीवित रहने पर ही साहित्य तथा आलोचना की जरुरत बनी रह सकती है।

आलोचना किसी भी कृति का मूल्यांकन है जो कृति को नया अर्थ प्रदान करते हुए रचनाकार को नई दिशा देती है। आलोचना मात्र सिद्धान्त न होकर रचनात्मक कार्य है जो सृजनात्मकता के बिना सम्भव नहीं है। आलोचना में कृति की व्याख्या के साथ - साथ रचनाकार का मूल भाव तथा उद्देश्य भी उजागर होता है। आलोचना में रचना का भाव प्रकट होकर पाठकों

---

[1] देवीशंकर अवस्थी, आलोचना का द्वन्द्व, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 79

[2] कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. की भूमिका से

[3] नामवर सिंह, आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 143

तक पहुँचता है। आलोचना की सृजनात्मकता के सम्बन्ध में दो तरह के तर्क चलते आ रहे हैं, कुछ विद्वान इसे सृजनात्मक मानने के पक्ष में हैं जबकि दूसरे नहीं।

जैसे - जैसे आलोचना के स्वरूप में बदलाव आया है वह सृजनात्मक हुई है। प्राचीन समाजशास्त्री जब ग्रंथों के भाष्य लिखते थे तो उसमें उनकी स्वयं की उपस्थिति न के बराबर होती थी। जैसे - जैसे आलोचना में विचारधारा का समावेश हुआ, उसमें भाषा के सवाल उठे, उसके केंद्र में विमर्श आए वैसे - वैसे उसकी नीरसता भी टूटी तथा आलोचना सृजनात्मक साहित्य की एक विधा मानी जाने लगी। आलोचना की सृजनात्मकता को समझते हुए आज लेखक इस पर स्वतंत्र रूप से पुस्तकें लिखने लगे हैं। काशीनाथ सिंह की कृति 'आलोचना भी रचना है' स्वतः ही आलोचना और रचना के सम्बन्ध को रेखांकित करती है।

विद्वान आलोचना की सार्थकता उसकी सृजनात्मकता में खोजने लगे हैं। इसी संदर्भ में आलोचक कमला प्रसाद का मानना है कि "कोई भी आलोचना रचनात्मक होकर ही सार्थक होती है किंतु उसके रचनात्मक होने का परिप्रेक्ष्य बाहर रहता है - समाज में।"[1] आलोचकों का मानना है कि सृजनात्मकता के बिना आलोचना संभव ही नहीं है। सृजनात्मकता ही आलोचना को पठनीय बनाती है, "आलोचना एक रचनात्मक कर्म है, यह दोयम दर्जे का काम नहीं है। यदि आप में सर्जनात्मकता नहीं है तो आप आलोचना नहीं कर सकते।"[2] लम्बी बहस के बाद आज हिंदी में यह बात लगभग स्वीकार हो चुकी है कि आलोचना रचनात्मक विधा है।

1.2 **आलोचना प्रक्रिया**

साहित्य की रचना - प्रक्रिया की तरह आलोचना की भी रचना - प्रक्रिया होती है। साहित्यकार और आलोचक दोनों के केन्द्र में समाज होता है, लेकिन आलोचक रचना के माध्यम से समाज से जुड़ता है। आलोचक व्यक्तिगत प्रतिक्रिया को वस्तुपरक निर्णय के साथ प्रकट करने की योग्यता रखता है। वह रचना के मूल्यांकन के उपरांत अपने निर्णय को स्पष्ट तौर पर प्रकट करता

[1] कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, दूसरे संस्करण की भूमिका से

[2] नामवर सिंह, आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 150

है। कमला प्रसाद ने आलोचना की प्रक्रिया की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "रचना की आलोचना की प्रक्रिया आस्वादन के बाद शुरू होती है। युग की सच्चाई से जुड़ा हुआ, उसके अंतर्विरोधों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में पहचानने वाला, कला की परम्पराओं से अनुस्यूत - आलोचक रचना के साक्षात्कार के बाद उसकी समग्रता को अपने अधीन कर लेता है। वह उसकी जाँच - पड़ताल में प्रवृत्त होता है।"[1] आलोचना की यह प्रक्रिया लगातार चलती रहती है, "आलोचना की दुनिया विचारों की दुनिया है और विचार के लिए चाहे गुरू - शिष्य परम्परा हो या विदग्ध लोगों का समुदाय, उनके बीच बातचीत और शास्त्रार्थ जरुरी है। बहस के जरिए एक पीढ़ी में जो सवाल उठते हैं, उनके जवाब अगली पीढ़ी को देने होते हैं।"[2] आलोचना कर्म में विचार - विमर्श ही आलोचना के भविष्य को निर्धारित करता है और लगातार विमर्श का रास्ता इसी से खुलता है।

आलोचक अपनी रुचि के अनुसार किसी आलोच्य कृति का चुनाव करता है, उसका अध्ययन करता है तथा उसके मर्म को ग्रहण करता है। रचना के अध्ययन - मनन के पश्चात उसे गहराई से अनुभव करना आलोचक का अगला महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसी से वह कृति के मुख्य पक्षों को उभारकर पाठक को सम्वेदित कर सकता है। क्योंकि, "रस किसी छन्द में नहीं, वह तो मानव - संवेदना के विस्तार में है। नायक - नायिका कवि जी की कल्पना में निर्माण होने के लिए नहीं हैं, प्रगतिशील संसार की नानाविध परिस्थितियों और सुख - दुख की तरंगों में डूबने उतराने और घुलकर निखरने के लिए हैं और काव्य - कला का सौष्ठव भी अनुभूति की गहराई में है, शब्दकोष के पन्ने उलटने में नहीं।"[3]

रचना का मूल्यांकन सिर्फ उसे पढ़कर या ग्रहण करके नहीं किया जा सकता बल्कि रचना के साथ - साथ उसके युग परिवेश, मूल्यों तथा रचना में व्याप्त अंतर्विरोधों की पहचान करके ही आलोचक रचना के साथ न्याय कर सकता है। आस्वादन के उपरांत आलोचक रचना - सत्य के

---

[1] कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 176

[2] नामवर सिंह, आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 139

[3] आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, हिंदी साहित्यः बीसवीं शताब्दी, इंडियन प्रेस पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, पृष्ठ - 56

माध्यम से रचना के युग की पहचान करता है। तत्कालीन समय की विभिन्न सामाजिक शक्तियों के बीच मौजूद संघर्ष व टकराहट को चिन्हित करता है।

आलोचक को रचनाकार के उस रवैये को समझना होता है जिससे वह सामाजिक जीवन के प्रति संवेदित हुआ है और यही नजरिया रचना की प्रासंगिकता तय करता है, "आलोचना कर्म में प्रवृति के पूर्व या कृति विशेष का चयन करने में लेखक की सामाजिक दृष्टि अहम् भूमिका अदा करती है।"[1] आलोचक रचना की सामाजिक प्रासंगिकता की पड़ताल करता है। रचनाकार के समाज से जुड़ाव की पहचान करता है और पहचान करता है रचना में व्याप्त सामाजिक मूल्यों की। ये सामाजिक मूल्य ही रचना की जगह भी निर्धारित करते हैं।

युग परिवेश तथा मूल्यों की पड़ताल के बाद आलोचक के लिए एक और चीज की पड़ताल करनी जरुरी होती है, वह है रचना में व्याप्त अंतर्विरोध। कई बार जाने - अनजाने रचनाकार अपनी रचना में अंतर्विरोधों का शिकार हो जाता है। आलोचक का काम है इन अंतर्विरोधों की पहचान करते हुए पाठक तथा रचनाकार दोनों को इन अंतर्विरोधों से रुबरु करवाना। अंतर्विरोधो या विरोधाभासों पर आधारित रचना बहुत समय तक टिक नहीं सकती इसलिए आलोचक का काम इन विरोधाभासों की पहचान करते हुए रचना तथा रचनाकार को इनसे मुक्त करना है।

कलात्मकता रचना का एक मुख्य पक्ष है। कलात्मकता ही पाठकों को रचना की तरफ आकर्षित करती है तथा उन्हें रचना से बांधे रखती है। बिना कलात्मकता के नीरस रचना को पढ़ना शायद ही कोई पसंद करे। रचना की कलात्मकता उसकी भाषा, शैली, बिम्ब प्रयोग आदि से बनती है। विषय - वस्तु को किस रूप में पाठक के सामने प्रस्तुत करना है, किस रूप में कृति अधिक ग्राहय होगी तथा संदेश दे पाएगी, यह सब कलात्मकता के ही सवाल हैं। विधाओं, रूपों तथा भाषा - शैली के अलावा कृति में नए - नए प्रयोग, संवादात्मकता, भिन्न संयोजन आदि से रचना को कलात्मक बनाया जा सकता है। आलोचक साहित्यिक परंपराओं, रूढ़ियों व मूल्यों का ज्ञाता होता है, वह कलात्मक शक्ति और कमजोर पक्षों को रेखांकित करता है। आलोचक समय तथा पाठकों

[1] कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, दूसरे संस्करण की भूमिका से

की जरुरत तथा पसंद के आधार पर रचना में कलात्मकता की खोज करते हुए उसका मूल्यांकन करता है।

आलोचक का कार्य किसी कृति विशेष या रचनाकार विशेष के साहित्यिक - सामाजिक पक्षों का मूल्यांकन करना है। आलोचक कृति विशेष या रचनाकार विशेष का साहित्य की परंपरा में स्थान निर्धारण करता है। रचना के मूल्यांकन के लिए आलोचक उसके सभी पक्षों को परखता है। आलोचक रचना की विषय - वस्तु का मूल्यांकन करने के साथ - साथ यह भी देखता है कि रचनाकार ने साहित्यिक विधा में नए तरीके का कोई विशेष प्रयोग किया है या नहीं, "आलोचना का मुख्य लक्ष्य है कृति का आंतरिक सत्य उद्घाटित करना, अनुभूति की प्रामाणिकता और आधुनिक संवेदना के स्तर खोजना, अनुभूति और अभिव्यक्ति में कलात्मक अन्विति देखना।"[1] आलोचक का काम है कि वह अपने समय की रचनाशीलता को गहराई के साथ समझे। जिस समस्या का जिक्र रचना में होता है उसकी पृष्ठभूमि को जाने बिना रचना का सही मूल्यांकन सम्भव नहीं है। आलोचक रचनाकार को सिर्फ दिशा ही नहीं दिखाता बल्कि उसका काम रचनाकार के सामाजिक - राजनैतिक दायित्वों को समझते हुए कृति का पूर्ण मूल्यांकन करना है।

आलोचक रचना के युग परिवेश, मूल्यों, अंतर्विरोधों को रचना की कलात्मकता में खोजता है तथा उसका मूल्यांकन करता है। अपने किए गए मूल्यांकन को प्रस्तुत करना आलोचक के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण तथा कठिन कार्य होता है। आलोचना के मूल्यांकन को आलोचक को इस रूप में प्रस्तुत करना होता है कि पाठक उसके मंतव्य को आसानी से ग्रहण कर सके, "रचना की जटिल संकुलता एवं अर्थस्तरों को स्पष्ट करके पाठकों को रचना का जो जीवंत बोध देकर ज्ञान के एक आयाम का विस्तार करती है - यही उसकी चरम सार्थकता है। इस सार्थकता के मूल में रचना और आलोचना की गहरी संपृक्ति स्पष्ट है।"[2]

रचना के साथ एकमेक होकर उसको पूर्णतः ग्रहण करके आलोचक अलग - अलग माध्यमों से रचना के मूल्यांकन को प्रस्तुत करता है। सबसे पहले आलोचक उसके लिए भाषा का

---

[1] डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, पृष्ठ - 199

[2] मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (सम्पा.),देवीशंकर अवस्थीः संकलित निबंध, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, दिल्ली, पृष्ठ - 53

चुनाव करता है, एक ऐसी भाषा का चुनाव जिसे पाठक आसानी से समझ तथा ग्रहण कर सके। आलोचक रचना के मूल्यांकन में तथ्यों का भी विशेष ध्यान रखता है क्योंकि तथ्यों से ही रचना तथा आलोचना की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। इन सबके बाद आलोचक का काम बचता है आलोचना में रोचकता पैदा करना। आलोचना अगर रोचक होगी तभी पाठकों द्वारा ग्राहय होगी और तभी आलोचक का उद्देश्य भी पूर्ण होगा। इसलिए आलोचक रोचकता के साथ कृति के मूल्यांकन को पाठकों के सामने प्रस्तुत करता है। रोचकता से कृति पठनीय बनती है और पठनीयता से ही रचना और पाठक में संवाद और समन्वयता बनती है जिसका वाहक होता है आलोचक, "क्रोचे के अनुसार कृतिकार, कृति और पाठक समन्वित हैं। आलोचना इससे अधिक कुछ नहीं कर सकती कि वह समन्वय की राह में बाधाएं दूर कर दे।"[1] समन्वय ही रचना तथा आलोचना के विस्तार का मार्ग है और यही साहित्य की बढ़ोतरी का आधार भी है।

1.3 रचना और आलोचना का अन्त:सम्बन्ध

रचना और आलोचना का अन्योन्याश्रित संबंध है। रचना आलोचना को आधार प्रदान करती है, रचना से ही आलोचना के औजार विकसित होते हैं। सिद्धान्तों के आधार पर रचना का मूल्यांकन करके आलोचक रचनाकार के लिए नये आयाम खोलता है। रचना और आलोचना के अंत:सम्बन्ध से साहित्य का विकास होता है। रचना और आलोचना परस्पर संवाद से ही आगे बढ़ती हैं।

आलोचक एक रचनाकार भी है। आलोचक रचना का विवेक अर्जित करते हुए अपनी रचना को रूपाकार प्रदान करता है। देवीशंकर अवस्थी ने इस संबंध में अपना मत प्रकट किया है, "समीक्षक के लिए आवश्यक है कि वह लेखक के स्तर पर जाकर अपनी विश्लेषणप्रवण बुद्धि द्वारा इन नये विकासमान मूल्यों को चुनकर पाठक समाज के सामने उपस्थित कर सके।"[2] कमला प्रसाद ने रचना और आलोचना को परस्पर एक - दूसरे पर आधारित माना है रचना और आलोचना के संबंधों को द्वन्द्वात्मक मानते हुए वे लिखते हैं, "रचना में तत्वों की खोज आलोचक

[1] रेने वेलेक (रुपांतकार इन्द्रनाथ मदान), आलोचना की धारणाएं, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृष्ठ - 207

[2] देवीशंकर अवस्थी, आलोचना का द्वन्द्व, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 17

करता है तथा आलोचना में जीवनी - शक्ति का समावेश रचना की अंतरंगता में डूबने से होता है। दोनों विधाओं का सम्बन्ध द्वन्दात्मक होता है और इस सम्बन्ध से दोनों का भला होता है, यानी गति आती है।"[1]

रचना आलोचक को आकर्षित करती है, प्रभावित करती है और लिखने को मजबूर करती है। रचना में वो ताकत होती है जो आलोचक को बांध कर रखती है। रचना आलोचक को इतने कोणों से एक साथ प्रभावित करती है कि उसके बारे में अपनी राय लिखकर ही आलोचक को तृप्ति होती है। रतन कुमार पाण्डेय रचना की शक्ति और उसकी भूमिका को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि "कोई भी अच्छी एवं सफल रचना अपने परिवेश की यांत्रिकता, कृत्रिमता, अमानवीयता तथा अर्थहीनता के विरुद्ध इन्सानियत की आवाज होती है। ताकि वह जीवन की ऊब, अकेलेपन तथा अवसाद से मुक्त होकर पाठक के भीतर परिवर्तन की आकांक्षा तथा संघर्ष का माद्दा पैदा कर सके।"[2] रचना आलोचना के लिए सामग्री तो है ही वह आलोचना के लिए सिद्धांत निर्माण का आधार भी है।

किसी भी कृति की आलोचना करने से पहले आलोचक अपना एक दृष्टिकोण निर्मित करता है, और उसी दृष्टिकोण के तहत वह रचना की आलोचना में प्रवृत्त होता है, "किसी भी स्थान पर रहने वालों का जीवन और रचनात्मक साहित्य ही समीक्षा - सिद्धांत को जन्म देता है।"[3] रचना में व्याप्त विषय - वस्तु, जीवन मूल्यों, सामाजिक स्थितियों आदि के आधार पर आलोचक सिद्धांतों निर्माण करता है। सिद्धांत या दृष्टिकोण के आधार पर ही आलोचक कृति की सही व्याख्या प्रस्तुत कर सकता है। कृति की समुचित व्याख्या के लिए आलोचक का यह दृष्टिकोण विस्तृत होना चाहिए जिसमें व्यक्ति, समाज तथा विचारधारा का समावेश हो।

कलात्मक कर्म, सामाजिक चेतना, दर्शन, मानव रुचियों का परिष्कार इत्यादि रचना के वे मूल्य हैं, जिनसे रचनाकार रचना में मौजूद वर्ग चेतना, रचना का आदर्श, उसके उद्देश्य आदि को

---

[1] कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 176

[2] डा. रतन कुमार पाण्डेय, आलोचक और आलोचना सिद्धांत, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका से

[3] वही, पृष्ठ - 17

पहचानता है। रचना में व्याप्त मूल्यों की तलाश करते हुए उनकी व्याख्या आलोचक करता है। रचना में विषय - वस्तु की तरह शिल्प भी महत्त्वपूर्ण है। जिस रचना में जितनी कलात्मकता होगी वह पाठक को उतना ही अधिक बांधने में समर्थ होगी, "कोई भी कृति बिना कलात्मक मूल्य के उच्चतम नहीं होगी।"[1] आलोचक का काम रचना में कला को ढूंढना और उसे उद्घाटित करना है। कला के महत्त्व की तरफ ध्यान दिलाना भी आलोचना का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

जिस तरह से रचना आलोचना को आधार प्रदान करती है, आलोचना भी रचना के मर्म को समझकर उसे परम्परा में स्थापित करती है, "आलोचना अपने समय और परिवेश के संदर्भ में किसी रचना के मर्म बिन्दु तक पहुँचने की दृष्टि है।"[2] आलोचना कई काम एक साथ करती है। वह रचना को सामाजिक लक्ष्यों से जोड़कर उत्कृष्टता के लिए लड़ती है और रचनाकार को बेहतर लेखन के लिए प्रेरित करती है। आलोचना रचना की उपलब्धियों को रेखांकित करती है और खामियों के लिए सुझाव प्रस्तुत करती है।

आलोचक रचना और पाठक के बीच एक कड़ी का काम करता है। वह पाठक को रचना उपलब्ध करवाता है और रचना को पाठक। आलोचना रचना के लिए प्रचार का काम भी करती है। एक अच्छी रचना को आलोचक बढ़ावा देता है तथा पाठकों को पढ़ने के लिए प्रेरित करता है। रचना में छिपी सच्चाइयों को उजागर करते हुए आलोचक उसके महत्त्व को बढ़ा देता है। आलोचना रचना के लिए नए आयाम खोलती है।

साहित्य की एक समृद्ध परम्परा होती है, जिसमें कुछ कालजयी रचनाओं का स्थान निर्धारित होता है। महत्पूर्ण रचनाएं अपना स्थान अनेक कालों तक परम्परा में बनाए रखती हैं। इस स्थान निर्धारण में आलोचना की भूमिका मुख्य होती है। कोई भी रचना महत्त्वपूर्ण बनती है अपनी पृष्ठभूमि, ऐतिहासिकता तथा सामाजिक सरोकारों से। इन मूल्यों के सकारात्मक उद्घाटन से रचना परम्परा में स्थापित होती है।

---

[1] कुंवरपाल सिंह (सम्पादक), साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद, पिपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, पृष्ठ - 14

[2] डा. रतन कुमार पाण्डेय, आलोचक और आलोचना सिद्धांत,वाणी प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका से

रचना अपने समय के यथार्थ, पीड़ा, संघर्ष, चेतना आदि को वर्णित करती है रचना का यह वर्णन युग के सत्य को उजागर करता है। आलोचना रचना के इस सत्य की तुलना युग के सत्य से करती है और रचना तथा युग के परस्पर सम्बन्ध को रेखांकित करती है। आलोचना तथा रचना का सम्बन्ध नाभी - नाल का सम्बन्ध है। रचना नाभी (जिस पर आलोचना आधारित है) है तो आलोचना नाल (पालन - पोषण का माध्यम) है। कह सकते हैं कि दोनों के आपसी सम्बन्ध से ही साहित्य का उत्तरोत्तर विकास होता है। दोनों एक दूसरे के सहारे आगे बढ़ती हैं। रचना आलोचना को जमीन देती है तो आलोचना रचना को सींचती है।

1.4 आलोचना और विचारधारा

विचारधारा शब्द अंग्रेजी के 'आइडियोलॉजी' का हिंदी अनुवाद है। इस शब्द का प्रयोग बीसवीं सदी के तीसरे - चौथे दशक में होना शुरु हुआ। माना जाता है कि विचारधारा शब्द का चलन मार्क्सवाद के साथ ही शुरु हुआ। इस सम्बन्ध में नामवर सिंह का कहना है, "मेरी जानकारी में मार्क्सवाद के आने के बाद आइडियोलॉजी के बारे में पूछा जाने लगा, मुक्तिबोध सवाल करते थे कि पार्टनर तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है? लोग कहते थे कि आपकी विचारधारा क्या है? 'विचारधारा' शब्द सामने आया और लोगों ने सुना कि मार्क्सवाद एक आइडियोलॉजी है।"[1] सिर्फ मार्क्सवाद ही नहीं प्रत्येक तरह का वाद या दृष्टिकोण विचारधारा ही है फिर चाहे वह प्रगतिशील हो या प्रतिक्रियावादी।

व्यक्ति के समूचे अनुभव का विशिष्ट अंग ही विचारधारा कहलाता है। जो उसकी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों से बनती है, "ऐन्द्रीय संवेदनाएं भावों को जगाती हैं, जिनकी अनुभूति से हमें नए अनुभव होते हैं और बुद्धि की कसौटी पर कसे जाने पर यह अनुभव ही विचार का रूप ग्रहण करते हैं।"[2] जिस समाज में व्यक्ति रहता है तथा कार्य करता है उसी समाज के अनुसार उसकी विचारधारा का निर्माण होता है। व्यक्ति की वर्गीय स्थिति उसकी विचारधारा व दृष्टि के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। विचारधारा कोई राजनैतिक कार्यक्रम न होकर

[1] नामवर सिंह, आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 16

[2] डा. सुधेश, साहित्य के विविध आयाम, नालंदा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 110

व्यक्ति की चेतना का ही विकास है, "वास्तव में एक वर्ग - विशेष के सामूहिक राजनैतिक कार्यक्रम को ही नहीं बल्कि व्यक्ति की समूची चेतना के वर्गीय स्वरूप को हमें विचारधारा की संज्ञा देनी चाहिए।"[1] वर्गीय चेतना ही विचारधारा का रूप ग्रहण करके साहित्य में प्रकट होती है।

साहित्य चूंकि जीवन तथा समाज के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करता है, इसलिए वर्गीय स्थिति के चित्रण के साथ - साथ वर्गीय चेतना लाने का काम भी साहित्य करता है, "अपनी वर्ग स्थिति और चेतना के अनुरूप ही साहित्यकार अपने साहित्यिक विषयों का चुनाव करके उन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। साहित्यकार अपनी ऐतिहासिक सामाजिक आवश्यकता के अनुसार ही अपने विषय चुनता है। साहित्य सृजन का आधार व्यक्तिगत होता है, परन्तु उसकी चेतना उस वर्ग में समाहित होती है जिसके भीतर कलाकार ने अनुभव प्राप्त किये हैं।"[2] साहित्य शोषित - उत्पीड़ित वर्ग को जागरुक करते हुए उसे संघर्ष के लिए प्रेरित करता है। प्रगतिशील विचारधारा को पोषित करते हुए साहित्य वर्ग - संघर्ष में योगदान देता है, "प्रत्येक साहित्यकार एक वर्ग - विशेष के दृष्टिकोण को अपनाकर ही तत्कालीन जीवन - परिस्थितियों को समझने का प्रयास करता है। अच्छा साहित्यकार सभी वर्ग - गत पक्षपातों से उपर नहीं उठ जाता बल्कि अपने समय के सबसे अधिक प्रगतिशील वर्ग का पक्षधर होता है।"[3] प्रगतिशील साहित्य सर्वहारा के पक्ष को साहित्य के माध्यम से उठाता है जबकि प्रतिक्रियावादी शक्तियों का पक्षधर साहित्य उन शक्तियों का प्रचार मात्र बनकर रह जाता है, "मार्क्स के अनुसार साहित्य निरपेक्ष सत्ता नहीं, युगीन अर्थव्यवस्था और उससे नियमित सामाजिक तन्त्र की अभिव्यक्ति है। वह सामाजिक स्थिति का चित्र है और समाज को बदल सकने में समर्थ है। पूंजीपति वर्ग साहित्य को ऐसी विधि से संचालित करता है जिससे शोषण और प्रतिक्रियावादी प्रवृतियां संवर्धित हों। मार्क्स सृजन प्रक्रिया को

---

[1] डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 7

[2] कुंवरपाल सिंह (सम्पा.), साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद, पिपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, पृष्ठ - 13

[3] डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 20

अचेतन और यान्त्रिक नहीं मानता अपितु सृजन के क्षणों में कलाकार विवेकवान होकर सौन्दर्य गत नियमों के अनुरूप अपनी कृति का गठन करता है।"[1] साहित्य का उद्देश्य समाज के पिछड़े वर्गों को जागरुक करना है। इसी से सामाजिक साहित्य के साथ जुड़ाव महसूस करता है।

साहित्य में सामाजिक स्वरूप का लेखा - जोखा विचारधारा के माध्यम से ही प्रकट होता है। कोई साहित्य ऐसा नहीं होता जिसमें कोई विचारधारा मौजूद न हो, "विभिन्न विचारधाराओं के आधार पर दार्शनिक और साहित्यकार जीवन और जगत की अलग - अलग व्याख्याएं करते हैं। लेखक इसमें नए अर्थ भरते हुए उसे नए रूप और विकास प्रदान करता है। कोई सार्थक लेखन ऐसा नहीं होता जिसके पास जीवन और जगत की व्याख्या करने वाली विचारधारा न हो। हर साहित्य का अपना वैचारिक पक्ष होता है।"[2] रचना में सीधे तौर पर विचारधारा उजागर नहीं होती वह अप्रत्यक्ष रूप में गुंथी रहती है जो पाठक को प्रभावित करती है। विचारधारा साहित्य के स्वरूप एवं उद्देश्य को स्पष्ट करती है।

साहित्य रुपी शरीर में विचारधारा श्वास का कार्य करती है। जैसे श्वास की गति जीवन की गति का निर्धारण करती है उसी तरह विचारधारा का समावेश साहित्य की उपयोगिता को निर्धारित करता है, "जिस तरह समाज का विकास वर्ग संघर्ष से होता है उसी तरह साहित्य का विकास वैचारिक संघर्ष से होता है"[3] साहित्य में विचारों का यह संघर्ष लगातार चलता रहता है और उसी से लगातार नयापन आता रहता है, "प्रत्येक लेखक की कोई न कोई विचारधारा होती है और प्रत्येक रचना में कोई न कोई विचार होता है। बिना विचार के न कोई लेखक हो सकता है और न ही कोई रचना हो सकती है। विचारधारा एक जीवनदृष्टि होती है जो सम्पूर्ण रचना प्रक्रिया को प्रभावित - संचालित करती है।"[4] विचारधारा रचना को पूर्णत प्रभावित करती है और उसका मूल्य निर्धारण करती है। विचारधारा किसी पार्टी का नारा नहीं होती बल्कि सामाजिक परिस्थितियों तथा

---

[1] डा. नरेन्द्रदेव वर्मा, आधुनिक पाश्चात्य काव्य समीक्षा के उपादान, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृष्ठ - 42 - 43

[2] कुंवरपाल (सम्पा.), साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद, पिपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, पृष्ठ - 12

[3] नामवर सिंह, आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 255

[4] विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, रचना के सरोकार, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 213

टकरावों से उत्पन्न विमर्श होती है, जो समाज के रुपों को व्याख्यायित करती है, "विचारधारा की प्रक्रिया में सामाजिकता के सभी रूपों की सैद्धांतिक व्यावहारिक समझ निहित होती है।"[1]

साहित्य लेखन की तरह ही साहित्य के मूल्यांकन में भी विचारधारा मुख्य रूप से विद्यमान रहती है। साहित्य की आलोचना में यही विचारधारा मूल्यांकन का औजार बनती है, "साहित्यिक कृति के माध्यम से व्यक्त होने वाले किसी भी अनुभव में विचारधारा एक आधारभूत आयाम के रूप में विद्यमान होती है और रचना के मूल्यांकन में इस आयाम का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।"[2]

कृति के मूल्यांकन में विचारधारा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आलोचक रचना के बारे में जो राय पेश करता है वह उसकी विचारधारात्मक राय होती है। विचारधारात्मक तौर पर तटस्थता तथा प्रतिबद्धता की बात की जाती है वह भी विचारधारा का ही हिस्सा होती है। विचारधारा के कारण ही साहित्यालोचना में विभिन्न आलोचनात्मक पद्धतियों एवं सिद्धांतों का जन्म हुआ है।

1.5 आलोचना: प्रमुख सिद्धांत एवं पद्धतियां

साहित्य की व्याख्या तथा विश्लेषण के लिए आलोचना का विकास हुआ। आलोचना ने विचारधाराओं को आधार बनाकर साहित्य की अलग - अलग रुपों में व्याख्या की। विचारधारा के आधार पर आलोचना पद्धतियों तथा सिद्धांतों का निर्माण हुआ। साहित्य के अध्ययन के लिए विकसित विभिन्न आलोचनात्मक पद्धतियों का परिचय हम यहां देंगे। जिसमें मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणवादी, अस्तित्ववादी, भाषा वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, उत्तर - आधुनिकतावादी आदि प्रमुख हैं।

1.5.1 मार्क्सवादी सिद्धांत एवं आलोचना

कार्ल मार्क्स विश्व के ऐसे चिंतक हैं जिनके विचारों व सिद्धान्तों ने पूरी दुनिया पर प्रभाव डाला। कार्ल मार्क्स (1818 - 1883) तथा फ्रेडरिक एंगेल्स (1820 - 1895) ने मिलकर 19वीं

[1] कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वंद्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 27

[2] डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 24

सदी में इस सिद्धान्त को विकसित किया। मार्क्स तथा एंगेल्स ने 1847 - 48 में कम्युनिस्ट घोषणापत्र लिखा। मार्क्स की रचनाओं 'दास कैपिटल' तथा 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में मार्क्सवादी दृष्टि का परिचय मिलता है। मार्क्स का मानना है, "चेतना मनुष्य के अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती, बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है।"[1] मार्क्स ने सामाजिक बदलाव की बात करते हुए कहा कि 'अब तक के दार्शनिक सृष्टि की केवल व्याख्या करते रहे हैं, लेकिन जरुरत इसे बदलने की है।'

कार्ल मार्क्स के दर्शन के तीन घटक हैं - द्वन्द्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष तथा अतिरिक्त उत्पादन का सिद्धांत। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में हीगल के विचारों को आत्मसात किया, "द्वन्द्ववाद बाह्यजगत और मानव चिंतन दोनों की गति के आम नियमों का विज्ञान है।"[2] मार्क्स के अनुसार प्रत्यय के नाम पर चिंतन की प्रक्रिया वास्तविक संसार की निर्माता नहीं है, बल्कि "विचार जगत, भौतिक जगत का मानव मस्तिष्क में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब है, जो चिन्तन के रूपों में बदल जाता है।"[3]

कार्ल मार्क्स आर्थिक आवश्यकताओं को इतिहास को निर्धारित करने वाली घटना मानते हैं। व्यक्ति और घटनाओं की बजाय वे आर्थिक परिवर्तन को राजनैतिक तथा सामाजिक बदलावों का आधार मानते हैं। समाज में शोषक और शोषित वर्ग में हमेशा संघर्ष रहता है। श्रम शोषित वर्ग करता है जबकि उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण शोषक वर्ग का होता है। शोषित के श्रम का फल शोषक वर्ग हड़प लेते हैं। मार्क्स का मानना है कि वर्गविहिन समाज के निर्माण से ही मानव - मुक्ति संभव है, "मार्क्सवाद वर्ग - विहिन समाज का हिमायती है, जिसे शोषण मूलक व्यवस्थाओं ने वर्गों में बांट रखा है।"[4] मार्क्स और एंगेल्स के बाद लेनिन, रोजा लक्ज़मबर्ग, माओ, ग्राम्शी आदि चिन्तकों ने मार्क्सवाद के विकास में योगदान दिया।

---

[1] डा. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 225

[2] सम्पत ठाकुर, मुक्तिबोध पुनर्मूल्यांकन, प्रगति प्रकाशन, आगरा, पृष्ठ - 20

[3] कार्ल मार्क्स, पूंजी (खण्ड - 1), प्रगति प्रकाशन, मास्को, पृष्ठ - 20

[4] शिवकुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिन्तनः इतिहास तथा सिद्धांत, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृष्ठ - 45

मार्क्सवाद ने साहित्यिक आलोचना व पद्धतियों को काफी हद तक प्रभावित किया है। मार्क्सवादी आलोचना ने अपनी दृष्टि, यथार्थ बोध, सौन्दर्य बोध व विश्लेषण पद्धति के कारण आधुनिक साहित्य को नया मार्ग दिखाया। मार्क्सवाद ने साहित्य व उसके अध्ययन, मनन को प्रभावित किया। विश्व स्तर पर मार्क्सवादी आलोचना निरंतर विकास करती रही है, "मार्क्सवादी आलोचना के सबसे पहले आलोचक जर्मनी में फ्रांज मेहरंग (1846 - 1916) थे और रूस में जार्जी प्लेखानोव (1856 - 1918) थे।"[1] ग्राम्शी, जार्ज लुकाच (जन्म - 1885) रेमंड विलियम, एडमंड विल्सन, क्रिस्टोफर काडवेल (1907 - 1937, Illusion And Reality), राल्फ फाक्स, फ्रेडरिक जैम्सन, टेरी ईगल्टन आदि ने विभिन्न आयाम जोड़कर मार्क्सवादी आलोचना को समृद्ध किया है।

मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि से हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है। हिन्दी में प्रगतिवादी आंदोलन की प्रेरणा मार्क्सवादी दृष्टि में छिपी थी। इसकी प्रेरणा से अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलाई। प्रेमचंद से लेकर यशपाल, भीष्म साहनी, नागार्जुन, शील, शिवमंगल सिंह सुमन, केदारनाथ अग्रवाल आदि ने सामाजिक यथार्थ को मार्क्सवादी दृष्टि से समझा और साहित्य में अभिव्यक्ति दी।

मार्क्सवादी समीक्षकों में रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रांगेय राघव, अमृतराय, शिवकुमार मिश्र, विशम्भरनाथ उपाध्याय, नामवर सिंह, मैनेजर पाण्डेय, पुरुषोत्तम अग्रवाल आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है।

मार्क्सवादी आलोचना ने अपने आंरभ से साहित्य की आलोचना सामाजिक संदर्भों में की। मार्क्सवादी सिद्धांत साहित्य का सामाजिक जीवन से संबंध मानते हुए समाज के परिवर्तन में साहित्य की भूमिका को स्वीकार करता है। मार्क्सवाद साहित्य को केवल मनोरंजन व कला के लिए नहीं मानता, बल्कि जीवन से उसका गहरा जुड़ाव मानता है। प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचंद ने इसके मंतव्यों को उद्घाटित करते हुए कहा था कि "हमारी कसौटी

[1] रेने वेलेक (रुपान्तकार, इन्द्रनाथ मदान) आलोचना की धारणाएं, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृष्ठ - 200

पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[1]

मार्क्सवादी आलोचना का मानना है कि रचनाकार अपने युग से पूर्णत प्रभावित होता है। सामाजिक जीवन के जुड़ाव के बिना मार्क्सवादी साहित्य की कल्पना भी नहीं कर सकते। इस सन्दर्भ में मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा का कहना है, "साहित्य का पौधा चूँकि हमारी सामाजिक जीवन की धरती पर ही उगता है। अतः साहित्य का इतिहास सामाजिक इतिहास से अलग न होकर उसका एक अंग होता है।"[2] मार्क्सवादी आलोचना सामाजिक यथार्थ को महत्त्व देती है। मार्क्सवादी आलोचना रचनाकार से अपेक्षा रखती है कि वह सामाजिक जीवन को पूर्ण रूप से समझकर यथार्थ रूप में चित्रित करे जिससे साहित्य का क्रान्तिकारी रूप सामने आए।

मार्क्सवादी साहित्य की तरह मार्क्सवादी आलोचना का भी समाज से सीधा सम्बन्ध है। टेरी ईगल्टन का कहना है कि "यदि मार्क्सवाद का उद्देश्य समाज को समझना और बदलना है तो मार्क्सवादी आलोचना का भी यही उद्देश्य होना चाहिए।"[3] साहित्य के अध्ययन के लिए आलोचना इस प्रभाव को ग्रहण करती है, "आलोचना एक ओर आलोचक के वैचारिक आत्मसंघर्ष का माध्यम है तो दूसरी ओर विचारधारात्मक संघर्ष का साधन भी। विचारधारात्मक संघर्ष का साधक बनकर ही वह व्यापक सांस्कृतिक संघर्ष का हथियार भी सिद्ध होती है। एक मार्क्सवादी आलोचक आलोचना को सामाजिक - सांस्कृतिक संघर्ष में 'आलोचना के हथियार' के रूप में इस्तेमाल करता है। उसका आलोचनात्मक संघर्ष केवल साहित्य के लिए संघर्ष नहीं होता, वह मूलतः समाज व्यवस्था के बुनियादी बदलाव के लिए संघर्ष होता है। मार्क्सवादी आलोचना एक संश्लिष्ट वैचारिक दृष्टि की देन होती है। जिसमें विश्वदृष्टि और कला - दृष्टि की एकता होती है।"[4]

---

[1] प्रेमचन्द, कुछ विचार, डायमण्ड पॉकेट बुक्स, दिल्ली, पृष्ठ - 25

[2] डा. शिवकुमार मिश्र, प्रगतिवाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 136

[3] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 38

[4] मैनेजर पाण्डेय, आलोचना की सामाजिकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 57

हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना का प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में कला तथा साहित्य के क्षेत्र में मार्क्सवाद के प्रवेश के साथ हुआ। साहित्य के मूल्यांकन तथा व्याख्या की प्रचलित पद्धतियों की तुलना में सौंदर्य सत्ता के उद्घाटन, उसके सामाजिक आधारों की खोज, सामाजिक प्रभाव आदि का मूल्यांकन मार्क्सवादी आलोचना पद्धति समग्रता से करती है। मार्क्सवादी आलोचना का मानना है कि मनुष्य की आर्थिक स्थिति उसकी विचारधारा का निर्धारण करती है। कला, साहित्य तथा संस्कृति मनुष्य की विचारधारा के ही रूप हैं। अतः मनुष्य की स्थिति तथा विचारधारा को साहित्य के माध्यम से समझा जा सकता है। मार्क्सवादी आलोचना साहित्य को समझने, व्याख्यायित करने का काम समतामूलक तरीके से करती है।

मार्क्सवादी आलोचना साहित्य को किसी राजनैतिक कार्यक्रम से बांधने की पक्षधर नहीं है बल्कि वह साहित्य में मानव मूल्यों की खोज वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करती है। साहित्य की व्याख्या करते हुए मार्क्सवादी आलोचना उसके सौंदर्य का उद्घाटन करती है, उसके सामाजिक आधार तथा प्रभाव का आंकलन करती है तथा मानव जीवन के प्रति उसके उत्तरदायित्व का बोध करवाती है।

कृति के रूप तथा वस्तु पक्ष को लेकर विवाद हमेशा से हिंदी आलोचना में रहा है। कुछ आलोचक भावपक्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं तो कुछ शिल्प को। मार्क्सवादी आलोचना किसी भी कृति की विषय - वस्तु को उसके स्वरूप से अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है। इस दृष्टि के अनुसार विषय - वस्तु ही कृति के रूप का निर्धारण करता है, "साधारणतः विषय - वस्तु से हमारा तात्पर्य भावों एवं विचारों से होता है एवं उन समस्त भाषिक एवं विशेषताओं को रूप - विधान के नाम से समझा जाता है जो उन भावों और विचारों को सम्प्रेषित करती है।"[1]

कला, साहित्य तथा संस्कृति अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की विचारधारा का ही अंग हैं। डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल साहित्य में मार्क्सवाद को समाज को समझने तथा बदलने वाला विज्ञान मानते हुए 'साहित्य और विचारधारा' लेख में लिखते हैं, "शोषित - उत्पीड़ित जनसमूह सचेत और जागरुक होकर पतनशील बुर्जुवा चिंतन द्वारा पोषित विभ्रमों को त्यागने लगते हैं तो समाज के

[1] देवीशंकर अवस्थी, आलोचना और आलोचना, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 24

यथास्थितिवादी तत्वों की यह भरसक कोशिश होती है कि साहित्य को स्वस्थ सामाजिक मूल्यों का वाहक तथा बहुसंख्यक जनता की चेतना को विकसित करने का माध्यम न बनने दिया जाये।"[1] साहित्य संबंधी अनेक समस्याओं का समाधान मार्क्सवादी चिंतन प्रणाली में मौजूद है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने का मतलब यह नहीं है कि साहित्य को राजनैतिक कार्यक्रम में बांध दिया जाए बल्कि मार्क्सवादी प्रभाव का अर्थ है साहित्य तथा समाज को समझने का वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना।

1.5.2 मनोविश्लेषणवादी सिद्धांत एवं आलोचना

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है जो हरेक चीज के बारे में जानना - समझना चाहता है। मनुष्य के मन को समझने वाले विज्ञान या दर्शन को मनोविज्ञान कहते हैं। मनोविज्ञान के सिद्धान्तों ने अनेक सर्जनात्मक साहित्यकारों को प्रभावित किया है, "मनोविज्ञान क्या है - लोगों के दैनंदिन जीवन में प्रकट होती संवेदनाओं, आचरण के तरीकों, मनःस्थितियों, विचारों, क्रियाकलापों और अनुभवों का योग।"[2]

देवराज उपाध्याय के अनुसार, "मन के प्रति मानव की चिन्ता को समझने - समझाने, देखने - बूझने का प्रयत्न ही मनोविज्ञान है।"[3] लाल जी शुक्ल अचेतन क्रियाओं के अध्ययन को मनोविज्ञान कहते हैं, "मनोविज्ञान मन की चेतन तथा अचेतन क्रियाओं का अध्ययन अपरोक्ष अनुभूति व बाह्य क्रियाओं के निरीक्षण द्वारा करता है।"[4] रेने वेलेक ने मनोविश्लेषणवाद के संदर्भ में कहा है कि "यह साहित्य का पाठ सतह के नीचे से करता है, यानी इससे परदा उठाता है। फ्रायड ने स्वयं मनोविश्लेषणवादी आलोचना की मूल भावनाओं का सुझाव दिया था। कलाकार मानसिक रोगी होता है जो अपनी सृजनात्मक प्रक्रिया के कारण टूटता तो नहीं है, वह इसके वास्तविक

---

[1] डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 7

[2] कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वंद्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ - 26

[3] देवराज उपाध्याय, आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान, साहित्य भवन प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 40

[4] लाल जी शुक्ल, सरल मनोविज्ञान, नंदकिशोर ब्रदर्ज प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ - 4

उपचार से भी दूर रहता है। कवि दिवास्वप्न देखता है और अपनी फंतासियों को प्रकाशित करता है और इस तरह वह अनोखे तौर पर समाज में स्थापित होता है।"[1]

मनोविश्लेषणवादी चिंतकों में मुख्यतः फ्रायड, एडलर और युंग का नाम लिया जा सकता है। जिन्होंने इस सिद्धांत को अलग - अलग रूपों में विश्लेषित किया है, सिग्मण्ड फ्रायड ने इसे 'अचेतन की अन्धी गलियां' कहा है, एडलर ने 'हीनता का बोध तथा कार्ल युंग ने इसे 'मानसिक ऊर्जा' माना है।

फ्रायड ने मनोविश्लेषण के अंतर्गत कला साहित्य की रचना प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए इन्हें कामवृत्तियों की अभिव्यक्ति कहा है। मनुष्य की दमित भावनाएं जब तृप्त नहीं हो पाती तो वे कुंठा में बदल जाती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में यह कुंठा विद्यमान होती है लेकिन सामाजिक वर्जनाओं के डर से व्यक्त नहीं हो पाती। कलाकार तथा साहित्यकार इन्हें अपनी रचनाओं में व्यक्त करते हैं। इस संबंध में एडलर फ्रायड से भिन्न मान्यता रखते हैं। एडलर वैयक्तिक मनोविज्ञान के जनक माने जाते हैं, वे प्रत्येक व्यक्ति को विलक्षण व उसके जीवन प्रवाह को उद्देश्यपूर्ण मानते हैं, "एडलर और फ्रायड की मान्यताओं में मौलिक अन्तर है, जहां फ्रायड कामवृति को ही जीवन की मूल प्रेरणा स्वीकार करते हैं वहां एडलर आत्मप्रकाशन की मूलप्रवृति को जीवनगत व्यवहारों का मूल उत्स मानते हैं।"[2] युंग 'कामवृति' तथा 'अहंस्थापन' दोनों को 'लिबिडो' के अन्तर्गत लेते हैं। वे इसे ऐसी प्रेरक शक्ति मानते हैं जो मनुष्य के व्यवहार में प्रकट होती है। युंग ने व्यक्ति के दो प्रकार माने हैं - अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी। अन्तर्मुखी व्यक्ति विचारों तथा भावनाओं में केन्द्रित, कल्पनाशील तथा भावुक होते हैं जबकि बहिर्मुखी व्यक्ति क्रियाशील, व्यवहारकुशल तथा समाजप्रिय होते हैं।

मनोविश्लेषणवाद का प्रभाव साहित्य की सभी विधाओं पर पड़ा। हिंदी में इलाचन्द्र जोशी, देवराज उपाध्याय, डा. नगेन्द्र, अज्ञेय आदि मनोवश्लेषणवादी रचनाकार हैं।

अज्ञेय कलाकार की आंतरिक प्रेरणा तथा कला को जोड़कर देखते हैं, "'अज्ञेय' की आलोचनात्मक दृष्टि के अनुसार कला और साहित्य को किसी सीमा में नहीं बांधा जा सकता है,

---

[1] रेने वेलेक (रुपांतकार, इन्द्रनाथ मदान), आलोचना की धारणाएं, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृष्ठ - 202

[2] डा. नरेन्द्रदेव वर्मा, आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृष्ठ - 40

क्योंकि वह कलाकार या साहित्यकार की आंतरिक प्रेरणा से उदभूत होती है और फलतः उसकी अनन्त संभावनाएं हैं"[1] मनोविश्लेषणवादी रचनाकारों ने मुक्त चेतना, फैण्टेसी, स्वप्नों का चित्रण अपनी रचनाओं में किया है। मनोविश्लेषणवादी आलोचना का उद्देश्य लेखक तथा उसकी रचना में आए पात्रों की मनः स्थिति का विश्लेषण करना है। मनोविश्लेषणवादी आलोचकों का मानना है कि साहित्य निर्माण व्यक्ति के अवचेतन मन की प्रेरणा के आधार पर होता है।

1.5.3 अस्तित्ववादी सिद्धान्त एवं आलोचना

अस्तित्व शब्द अंग्रेजी के 'Existentialism' का हिन्दी पर्याय है, जो मूलतः दर्शनशास्त्र का शब्द है। अस्तित्ववादी आलोचना का जन्म बीसवीं सदी में हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद निराशा, भय, कम्पन के माहौल ने जर्मनी तथा फ्रांस में अस्तित्ववाद को जगह दी।

धर्म एवं समाज की मान्यताएं मनुष्य के जीवन तथा विकास को अवरुद्ध कर रही थीं, इन्हीं मान्यताओं का विरोध करते हुए अस्तित्ववादियों ने मनुष्य की स्वतंत्र तथा प्रकृत सत्ता को महत्त्व दिया, "अस्तित्ववादी, व्यक्ति का अस्तित्व किसी बाह्य सत्ता के अधीन नहीं मानते। उनके अनुसार मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता तथा अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी स्वयं है।"[2] अस्तित्ववादी चिंतक सारेन कीर्केगार्ड, नीत्से, मार्टिन हेडेगर, गेब्रियल मार्सल, ज्यां पाल सार्त्र, अल्बर्ट कामू, मैक्स कूमरेल, रेमंड, हर्टमान आदि ने समय - समय पर भाग्य तथा ईश्वर पर सवाल उठाए हैं।

जर्मनी में धार्मिक चिन्तक सारेन कीर्केगार्ड (1813 - 1855) अस्तित्ववादी सिद्धांत से दूसरे दशक से ही परिचित थे, उन्होंने नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक मान्यताओं का सर्वप्रथम विरोध किया। यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति से तकनीक तथा विज्ञान का विकास हुआ, जिसने मनुष्य के अस्तित्व को गौण कर दिया, वह पूर्णतः मशीन पर आश्रित होने लगा। कीर्केगार्ड ने इस परिस्थिति में मनुष्य के स्वछंद अस्तित्व की बात उठाते हुए धर्मिक, नैतिक तथा सामाजिक प्रवृतियों तथा आदर्शवाद का विरोध किया। जर्मन दार्शनिक नीत्से (1844 - 1900) ने

[1] डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, पृष्ठ - 200

[2] डा. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 47

अस्तित्ववादी विचारधारा का खुलकर समर्थन किया। उन्होंने 'सुपर मैन' की कल्पना की तथा ईश्वर के अस्तित्व को नकारा। नीत्से ने घोषणा की कि 'ईश्वर की मृत्यु हो चुकी है।'

मार्टन हेडेगर ने अपनी पुस्तक 'SeinundZeit (1927)' में मनुष्य के अस्तित्व को सर्वोपरी माना। फ्रांस में ज्यां पाल सार्त्र ने अपनी पुस्तक 'Quest - ce que la litterture (1948)' में अस्तित्ववाद पर विस्तृत चर्चा की। इस पुस्तक में सार्त्र ने कला की पराभौतिक धारणा पर बल दिया। सार्त्र उस संसार की उपलब्धता चाहता है जो हमें दिखाई नहीं देता। कला को बहुत महत्त्व न देकर सार्त्र उसे माया, अवास्तविक और छाया संसार को सृजित करने वाली तथा संदिग्ध मानता है। सार्त्र उन धार्मिक, नैतिक व सामाजिक मूल्यों का विरोधी है जो मनुष्य की स्वतंत्रता छीनते हैं, तथा उसे नीतिपरक उपदेश देकर उसकी स्वच्छंदता को खत्म करते हैं।

सार्त्र के बाद प्रतीकवाद तथा अतियथार्थवाद के साथ जुड़कर अस्तित्ववाद का सही रूप में विकास हुआ। जर्मन विद्वान मैक्स कूमरेल (1902 - 1944) ने कविता का अध्ययन आत्मज्ञान के रूप में किया। रेमंड की पुस्तक 'De Baudelaire au Surrealisme (1935)' में कृति के विश्लेषण की बजाय चेतना के अन्वेषण तथा कृतिकार की अस्तित्व सम्बन्धी भावनाओं का अध्ययन है। हर्टमान अपनी पुस्तक 'The Unmediated Vision (1954)' में अस्तित्व की समझ अपनी तत्कालीनता में मानते हैं।

अस्तित्ववाद की आन्तरिक दृष्टि मानवीय आत्मा की दशा के बारे में है। इनका मानना है कि अगर ईश्वर का अस्तित्व न रहे तो मनुष्य पर नियंत्रण भी नहीं रहेगा और वह बन्धनों से मुक्त हो सकता है। अस्तित्ववादी चिंतक ज्ञान - विज्ञान के महत्त्व को भी अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि अस्तित्व बोध में बाधक बनने वाली प्रत्येक चीज निरर्थक है। अस्तित्ववादियों का मानना है कि मानव की स्थिति जानने के लिए किसी भी सहारे की आवश्यकता नहीं है।

अस्तित्ववादी कहते हैं कि किसी भी प्रकार की उन्नति मनुष्य को पूर्ण संतुष्टि नहीं दे सकती। अस्तित्ववादी मनुष्य की स्वच्छंदता के पक्षधर हैं फिर चाहे ये स्वच्छंदता उन्हें मृत्यु की तरफ उन्मुख कर दे। मृत्यु को भी वे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं, "चयन की स्वच्छंदता

अथवा वैयक्तिक स्वच्छंदता ही चूंकि अस्तित्ववादी दर्शन का प्राणतत्व है, इसलिए उनके साहित्य में घोर अराजकता, उन्मुक्त भोग, यौनाचार, नास्तिकता, असामाजिकता, विज्ञान - विरोधिता आदि अनेक अनाचारी एवं अवांछनीय तत्वों की बहुलता पाई जाती है।"[1]

अस्तित्ववाद साहित्य में व्यक्तिवादी, अंतर्मुखी, आत्मकेन्द्रित विचारधारा का समर्थक है। इनके अनुसार मुक्ति का साहित्य वही साहित्य है जिसमें परंपरागत मूल्यों, धर्म, समाज, नैतिकता आदि निरर्थक धारणाओं का विरोध हो। अस्तित्ववादी मानव जीवन को निराशामय तथा दुखद मानते हैं। मानव के दुख, यातना, संत्रास, एकाकीपन आदि को वे जीवन का अनिवार्य हिस्सा मानते हैं और मृत्यु को जीवन की सीमा।

सिमोन द बोउवार, अल्बेयर कामू, ज्यां पाल सार्त्र, फियोडोर दोस्तोएवस्की, फ्रांज काफ्का आदि पाश्चात्य साहित्यकार अस्तित्ववाद से प्रभावित रहे। हिन्दी साहित्य में नई कविता ने अस्तित्ववाद से प्रभाव ग्रहण किया। अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, जैनेन्द्र, कुंवर नारायण, भारत भूषण अग्रवाल, धर्मवीर भारती, दुष्यंत कुमार आदि की रचनाओं में अस्तित्ववादी प्रवृतियां देखी जा सकती हैं।

1.5.4 भाषा वैज्ञानिक/शैली वैज्ञानिक सिद्धांत एवं आलोचना

बीसवीं सदी में आलोचना की एक प्रवृति को भाषिकी कहा गया जो कालांतर में भाषावैज्ञानिक आलोचना कहलाई। उसी समय एक पंक्ति, "कविता विचारों से नहीं शब्दों से लिखी जाती है।"[2] बहुत प्रसिद्ध हुई जिसे मलार्मे ने काफी गम्भीरता से लिया। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रूस में भाषा अध्ययन के लिए एक समिति बनाई गई। इस समिति के सदस्यों ने स्वर - व्यंजन की लय, गद्य भाषा, छन्दों आदि का अध्ययन किया। भाषा वैज्ञानिक पद्धति को सस्युर और रुसी भाषाशास्त्रियों ने विकसित किया। भाषा विज्ञान के आधार पर कृति के अध्ययन के लिए इन्होंने अनेक पद्धतियां विकसित की।

---

[1] डा. अमरनाथ, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 47

[2] रेने वेलेक (रुपांतकार - इन्द्रनाथ मदान), आलोचना की धारणाएं, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृष्ठ - 203

कार वोसलर (1872 - 1949) ने भाषा और कला के आधार पर कृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया। इन्होंने वाक्य और शैली विज्ञान की पद्धतियां स्वयं इजाद की। लियो स्पिटजर (1887 - 1960) ने शैली वैज्ञानिक पद्धति का विकास किया। स्पिटजर शैली तथा व्याकरण के आधार पर किया गया अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है। हालांकि बाद में वे स्वयं अपनी पद्धति को रद्द करते हुए शैली को सतह पर ले गए और साहित्यिक कृतियों का अध्ययन संरचना के आधार पर करने लगे। इरिच आयरबाच (1892 - 1957) ने कृतियों का अध्ययन भाषा - विज्ञान के आधार पर ही किया। जर्मनी में भाषा वैज्ञानिक दामासो (1898) अलोन्सो ने आलोचना को शैली विज्ञान से जोड़ा। आई. ए. रिचर्ड (1893) ने अर्थ के सिद्धान्त को विकसित किया। उनका स्नायु विज्ञान के विकास पर आधारित सिद्धान्त अधिक समय तक चल न सका। लेकिन इनके अर्थवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रभाव अमेरिकी आलोचकों पर पड़ा। हिंदी में भोलानाथ तिवारी ने भाषा विज्ञान पर काम किया, "कविता भाषा के स्रोतों का अधिकतम उपयोग करती है, कविता अपने को साधारण भाषा से ध्वनि और छन्दों और बिम्बावली के सब उपकरणों द्वारा दूर कर लेती है। काव्य - भाषा भाषा में भाषा है, भाषा जिसका पूरी तरह रुपीकरण हो चुका है। वेलेर के अनुसार कविता कलन और अभ्यास दोनों है, एक क्रीड़ा भी है और एक गीत है, एक आलाप है, एक जादू है, एक मोहिनी है।"[1]

1.5.5 समाजशास्त्रीय सिद्धांत एवं आलोचना

समाजशास्त्र समाज को समझने वाले एक विज्ञान की तरह है। अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास, मानव विज्ञान, दर्शनशास्त्र के आपसी संबंधों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने वाला शास्त्र समाजशास्त्र है। साहित्य अनुभव तथा विचार के संयोजन से समाज का चित्र हमारे सामने पेश करता है। समाजशास्त्रीय चिंतकों में लूसिए गोल्डमान, लियो लॉवेंथल तथा रेमण्ड विलियम हैं। साहित्यकार समाज को प्रभावित करने वाले तत्वों राजनीति, धर्म, दर्शन पर विचार करते हुए समाज तथा जीवन का समग्र चित्रण करता है। समाज तथा जीवन को प्रभावित करने वाले तत्वों से

[1] रेने वेलेक (रुपांतकार - इन्द्रनाथ मदान), आलोचना की धारणाएं, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृष्ठ - 208

साहित्य का सीधा संबंध है। दर्शन से वह जीवन को समझने की दृष्टि पाता है, मनोविज्ञान से मन की स्थिति समझता है तथा राजनीति एवं अर्थशास्त्र से सामाजिक परिस्थितियों की समझ पाता है। समाज, धर्म, राजनीति, अर्थ, दर्शन आदि के माध्यम से साहित्य जीवन को समग्रता में देखता तथा व्याख्यायित करता है। जीवन को समग्रता से समझने तथा रुपायित करने की इस साहित्यिक दृष्टि को समाजशास्त्र कहते हैं।

समाजशास्त्र मात्र समाज के आंकड़े ही पेश नहीं करता बल्कि सामाजिक परिस्थितियों एवं मानव मन के अंतर्संबंधों को पहचानकर उनकी व्याख्या करता है। समाज के केंद्र में मनुष्य है और उसके इर्द - गिर्द मनुष्य को प्रभावित करने वाली परिस्थितियां। समाजशास्त्र मनुष्य तथा उसकी सामाजिक परिस्थितियों के आपसी संबंधों की पहचान करता है। समाजशास्त्रीय आलोचना सामाजिक मूल्यों के साथ - साथ सामाजिक तथ्यों को साहित्य के लिए आवश्यक समझती है, "टेरी इगल्टन के अनुसार साहित्य के समाजशास्त्र को समझने की दो दृष्टियां सकती हैं, पहली यथार्थवादी दृष्टि जिसके अनुसार साहित्य के सामाजिक संदर्भों का गहराई से अध्ययन होता है। इस विधि के अनुसार साहित्य का कोई भी आलोचनात्मक मूल्यांकन जिसमें उसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य को नजरअंदाज किया गया हो, सहज ही अधूरा होगा। उनके अनुसार साहित्य के अध्ययन की दूसरी दृष्टि हठाग्रही या उपयोगितावादी होती है। इसके अनुसार साहित्य सभी तरह की वस्तुओं और सामाजिक संदर्भों से जुड़कर आकार ग्रहण करता है।"[1]

समाजशास्त्रीय आलोचना की जीवन सापेक्षता एवं व्यापकता को देखते हुए ही साहित्यिक मूल्यांकन के लिए इसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। समाजशास्त्रीय दृष्टि साहित्य को सामाजिक यथार्थ से निर्मित मानती है तथा इसी आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करती है। सामाजिक भावसत्ता के अंदर ही साहित्य का आस्वाद निहित होता है। सामाजिक भावसत्ता में व्यक्ति मन के अनुभव शामिल होते हैं। व्यक्ति लोक या समाज का ही हिस्सा है इस संदर्भ में आचार्य शुक्ल ने लोकहृदय की थाह लेने वाले साहित्यकार को अच्छा माना है।

[1] डा. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 379

समाजशास्त्रीय आलोचना का जन्म आधुनिक काल में हुआ माना जाता है। आधुनिक काल में साहित्य सामाजिक यथार्थ से जुड़ने लगा था। भारतेंदु ने 'नाटक' नामक निबंध में जन - रुचि की बात की। जनरुचि के आधार पर साहित्य में बदलाव शुरु हो चुका था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य की व्याख्या करते हुए सामाजिक जीवन के भाव - बोध को साहित्य जीवनी माना। द्विवेदी जी ने साहित्य को मानव तथा समाज से जोड़कर देखा है तथा साहित्य के सौंदर्य के मूल में सामाजिक सौंदर्य को माना है। शुक्ल जी ने सही अर्थों में साहित्य को सामाजिक जीवन से जोड़कर देखा। उन्होंने साहित्य में लोक को प्रतिष्ठित करते हुए साहित्य और समाज के आंतरिक संबंधों को समझा। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' लिखते हुए उन्होंने सभी कालों की परिस्थितियों को साहित्यिक प्रवृतियों से जोड़ा। उन्होंने लोक को साहित्य की शक्ति माना। लोक हृदय की पहचान करके ही साहित्य सामाजिक जीवन से जुड़ सकता है। 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' में मैनेजर पाण्डेय समाजशास्त्रीय आलोचना को स्वतंत्र सिद्धांत मानते हुए कहते हैं, "समाजशास्त्री भले ही साहित्य के समाजशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा समझें लेकिन वास्तविकता यह है कि अब वह समाजशास्त्र से स्वतंत्र एक साहित्य की विधा के रूप में विकसित हो रहा है।"[1] समाजशास्त्रीय आलोचना साहित्य का महत्त्व सामाजिकता में खोजती है। समाजशास्त्रीय आलोचना सामाजिक संस्थाओं के संदर्भ में ही समाज तथा साहित्य की परस्पर व्याख्या करती है। हिंदी के समाजशास्त्रीय आलोचकों में डा. नगेन्द्र, बच्चन सिंह, निर्मला जैन तथा मैनेजर पाण्डेय का नाम लिया जा सकता है। मैनेजर पाण्डेय ने नामवर सिंह को हिंदी में समाजशास्त्र के प्रस्तोता माना है। समाजशास्त्रीय पद्धति को साहित्य की सटीक आलोचना पद्धति मानते हुए डा. अमरनाथ कहते हैं कि "साहित्य को सामाजिकता से अलगाकर उसकी एक स्वतंत्र पहचान का ढिंढोरा पीटनेवालों को यह बात समझनी चाहिए कि जब साहित्य या सामजिक अस्तित्व ही संकट में आता जा रहा है तो उसकी स्वतंत्र पहचान की रक्षा सामाजिक गुत्थियों से उसके पेंचीदा संबंधों को सुलझाए बिना संभव नहीं है।"[2] फिर भी कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी आलोचना की सी राजनैतिक तथा अर्थशास्त्रीय दृष्टि इसके पास नहीं है।

---

[1] डा. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 379

[2] वही, पृष्ठ - 381

1.5.6 उत्तर - आधुनिकतावाद

अंग्रेजी के Postmodernism को हिंदी में उत्तर - आधुनिकतावाद कहा गया है। उत्तर आधुनिकवाद के स्वरूप को समझना आसान नहीं है। विश्व तथा हिंदी के चिंतकों द्वारा इसे अलग - अलग तरीके से समझने का प्रयास किया गया है तथा इसकी बहुत सारी व्याख्याएं प्रस्तुत की गई हैं, "एक की निगाह में उत्तर आधुनिकता, आधुनिकता का अगला चरण है तो दूसरे की निगाह में आधुनिकता से मुक्ति।"[1]

उत्तर - आधुनिकतावाद को चिंतकों ने सिर्फ आधुनिकतावाद की उत्तरस्थिति न मानकर सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करने वाली एक स्वतंत्र शैली माना है, "उत्तर - आधुनिकता ऐसी वस्तुस्थिति है जो केवल आधुनिकता की उत्तर - स्थिति तक सीमित नहीं है। यह कहीं अधिक व्यापक पैमाने का ऐसा उत्तरवाद है जिसने अपनी पहचान पूरी जीवन - शैली में व्याप्त होकर कायम की है। औद्योगिकता, पूंजीवाद, साम्राज्यवाद, साम्यवाद, संरचनावाद जैसी तमाम स्थितियों और वैचारिकताओं के संदर्भ में यह उत्तर स्थिति है - एक विराट 'उत्तरकांड'।"[2]

उत्तर - आधुनिकतावाद की कोई एक परिभाषा नहीं क्योंकि वह समग्रतावाद का विरोधी है। कोई उसे छलना कहता है। किसी के लिए चिन्हों की लीला है। किसी के लिए तर्क - इतिहास का अंत है। किसी के लिए विखण्डन है। किसी के लिए बहुलतावाद है। किसी के लिए महावृतांत का अंत है, "उत्तर - आधुनिकतावाद की न कोई निश्चित सैद्धांतिकी है न परंपरागत अर्थ में कोई शास्त्र। उत्तर - आधुनिक परिदृश्य में, यह वस्तुस्थिति के प्रति एक तरह की मानसिकता है जो हमारे जीवनगत व्यवहार और आचरण में प्रतिफलित होती है। इस मानसिकता का कोई विचारधारात्मक आधार नहीं है क्योंकि इसका एक महत्त्वपूर्ण लक्षण विचारधारा - मात्र का निषेध है।"[3] उत्तर आधुनिक चिंतकों में जैम्स लाकां, जैक्स देरिदा, जां फ्रात्सुवा ल्योतार, हर्बर्ट मारक्यूज, मिशेल फूको, हैबरमास, बौद्रिआ आदि प्रमुख हैं।

---

[1] डा. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली पृष्ठ - 77

[2] निर्मला जैन, काव्य - चिंतन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 185

[3] वही, पृष्ठ - 185

उत्तर - आधुनिकतावाद का मानना है कि विचारधारा से सम्बद्ध होकर साहित्य ठस्स हो जाता है। 'एलियट' ने उपन्यास की तो 'विल्सन' ने काव्य मौत की घोषणा की, "उत्तर - आधुनिकता के माहौल में गत पच्चीस वर्षों से भी अधिक अरसे से टैक्नोलॉजी, सूचना सिस्टम, जनसंचार, मुक्त मार्किट अर्थ व्यवस्था, मूल्यों और जीवनशैली में जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनका प्रभाव साहित्य, संस्कृति एवं समाज पर इतना अधिक पड़ा कि साहित्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया।"[1]

हिंदी में उत्तर - आधुनिकतावाद पर विचार तो हुआ है लेकिन इसको लेकर भ्रम की सी स्थिति है। विद्वानों ने इसे आधुनिकता के विरोधी के रूप में समझने की कोशिश की है तो इसे आधुनिकता का विस्तार भी माना है। हिंदी आलोचना में इसका स्वागत तो हुआ लेकिन इसकी कोई सुचिंतित पद्धति विकसित नहीं हो पाई।

हिंदी के सिद्धांतकार उत्तर - आधुनिकता को आधुनिकता का ही अगला चरण मानते हैं। सुधीश पचौरी उत्तर - आधुनिकता को पूँजीवादी विकास की नई स्थिति के रूप में देखते हैं, "आधुनिकतावाद एक सांस्कृतिक प्रत्यय है जबकि आधुनिकता एक सामाजिक प्रत्यय। आधुनिकतावादी बुद्धिजीवियों ने समाज को बदलने में जो भूमिका निभाई, उत्तर आधुनिकतावादी उसकी पड़ताल करता है और उसे समस्यापूर्ण मानता है। वह आधुनिकता की स्वायत्तता की धारणा को खण्डित मानता है और कहता है कि कुछ भी स्वायत्त नहीं है।"[2] बैजनाथ सिंहल के अनुसार, "उत्तर - आधुनिकता निःसन्देह आधुनिकता की प्रतिस्थिति है। आधुनिकता ने विचारधाराओं, वृत्तांतों के रूप में जो कुछ सामने रखा था, उत्तर आधुनिकता ने उसे अमान्य घोषित कर दिया और इसके साथ संस्कृति से लेकर समाज तक कितनी ही और अमान्यताओं की घोषणा की है।"[3]

कैलाश वाजपेयी उत्तर - आधुनिकता को तुरंत घटित घटना न मानकर इसे एक लम्बी प्रक्रिया मानते हैं, "वह एक तरह की परिणति है, चाहे तो इसे दुर्गति भी कह सकते हैं। ऐसी दुर्गति

---

[1] देवेन्द्र इस्सर, उत्तर आधुनिकताः साहित्य और संस्कृति की नई सोच, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 59

[2] सुधीश पचौरी, उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 35

[3] बैजनाथ सिंहल, उत्तर आधुनिकताःस्वरूप और आयाम, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, पृष्ठ - 3

जिसके बीज आदमी की तथाकथित प्रगति में ही विद्यमान थे।"[1] उत्तर - आधुनिकता को नकारात्मक रवैया मानते हुए देवेन्द्र इस्सर ने इस पर कई सवाल उठाएं हैं, "क्या उत्तर आधुनिकता एक मानसिक स्थिति है? क्या एक आन्दोलन या विचारधारा है? क्या यह एक नकारात्मक रवैया है जो आधुनिकता के विरुद्ध उभरकर सामने आ रहा है और उसकी समस्त सम्पदा - चिंतन, दर्शन, विचारधारा, व्यवस्था, साहित्य, सभ्यता और मूल्यों को नष्ट - भ्रष्ट कर रहा है। उत्तर आधुनिकतावाद सामाजिक एवं ऐतिहासिक चिंतन की सम्पूर्णता के समस्त विचारों को रद्द करता है।"[2]

उत्तर - आधुनिकतावाद ने साहित्य की समाज सापेक्षता को नकारते हुए व्यक्तिवादी साहित्य पर अधिक बल दिया है। जिसमें यथार्थ, क्रमबद्धता तथा समग्रता को नकारा गया है तथा इतिहास और परम्परा का विरोध किया गया है। उत्तर - आधुनिकतावाद व्यक्ति को यंत्रिकरण तथा उपभोक्तावाद के हवाले करता है। बच्चन सिंह इसे अराजकतावादी प्रवृति कहते हैं, "उत्तर - आधुनिकता में कम्प्यूटर युग, दूर संचार माध्यम, टेक्नोलॉजी के कारण जो नई स्थितियां पैदा हुई हैं उन्हीं से उत्तर - आधुनिकतावादी चेतना का विकास हुआ है। इसमें तर्क, यथार्थ, इतिहास, रूप सबका नकार है। यह एक अराजकतावादी निहलिस्ट प्रवृति है।"[3]

भारत में जिस समय आधुनिकतावादी आंदोलन चल रहा था तब तक पश्चिमी देशों में इसका अगला चरण उत्तर - आधुनिकतावाद शुरु हो चुका था, "बीसवीं शताब्दी उत्तर - औद्योगिक क्रांति का अदभुत युग है। इस युग में समाज, संस्कृति, राजनीति, कला, साहित्य, दर्शन, संगीत, इतिहास, अर्थव्यवस्था और पूरे मानव - चिंतन में जो परिवर्तन - चक्र तीव्रगति से घूमा है - उस स्थिति - परिस्थिति की ओर ध्यान दिलाने वाला नाम है - 'उत्तर - आधुनिकतावाद'।"[4]

उत्तर - आधुनिकतावाद ने जीवन तथा साहित्य को व्याख्यायित करने का अपना नजरिया विकसित किया जिसने मार्क्सवाद को नकारते हुए, "मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय आलोचना को

---

[1] कैलाश वाजपेयी, आधुनिकता का उत्तरोत्तर, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 7

[2] वही, पृष्ठ - 7

[3] डा. बच्चन सिंह, आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 28

[4] कृष्णदत्त पालीवाल, उत्तर - आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका से

महत्त्वहीन घोषित कर दिया। भारत में भी उत्तर - आधुनिकतावादियों ने प्रगतिवादी साहित्यकारों को अपना निशाना बनाया।"[1] उत्तर - आधुनिकतावादियों ने प्रगतिवादी साहित्यकारों को घटिया नारेबाजी करने वाले साहित्यकार कहा।

उत्तर - आधुनिकतावादी दृष्टि आधुनिकता के विरुद्ध नहीं बल्कि आधुनिकता के आगे की स्थिति है। जहाँ आधुनिकता ने मनुष्य को मध्यकालीन भावबोध से मुक्त कर एक नया क्षितिज प्रदान किया था वहीं उत्तर आधुनिकता ने उसे सभ्यता, संस्कृति, दर्शन व साहित्य से अलग कर पुनः धुंधलके में डाल दिया। भौतिक विज्ञान तथा औद्योगीकरण के बाद उत्तर - आधुनिकतावाद धीरे - धीरे मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में फैल गया। इसने साहित्य को भी पूरी तरह से प्रभावित किया। यूरोप के देशों में जन्मा यह वाद वैज्ञानिक तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति की समानता, स्वतंत्रता तथा भाईचारे की बात उठाता है तथा सामन्तवादी मूल्यों का खण्डन करता है।

उत्तर - आधुनिकतावाद ने साहित्यिक मूल्यों को काफी हद तक बदला। हिंदी साहित्य पर 1940 के आस - पास उत्तर - आधुनिकतावादी प्रभाव दिखाई देने लगा। जो अज्ञेय के प्रयोगवाद में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में प्रकट हुआ। आधुनिकतावाद ने व्यक्ति की घुटन, निराशा तथा कुण्ठा का यथार्थवादी चित्रण किया, "पश्चिमी चिंतन और साहित्य पर छाये क्षणवाद, संशयवाद, कुण्ठावाद, लघुमानववाद, अस्तित्ववाद, और उससे संलग्न अजनबीपन, अकेलेपन, आत्मकेन्द्रीयता आदि यथार्थ विरोधी, पतनशील और अमानवीय मूल्यों ने आधुनिकतावाद और विश्वमानवतावाद के आवरण में हमारे साहित्य में प्रवेश किया और हमारे साहित्य की राष्ट्रीय और जनवादी परम्परा पर हमला बोल कर उसे कमजोर किया।"[2]

भारत में स्वतंत्रता आंदोलन के बाद उत्तर - आधुनिकतावाद ने साहित्यिक आंदोलन का रूप ग्रहण किया, जिसे ठोस रूप अकविता तथा अकहानी के माध्यम से मिला, "उन्नीसवीं सदी के दौरान यहां समाज और वस्तुगत को तर्क और तथ्यों के आधार पर समझने का वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित हुआ और व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं गरिमा, सभी मनुष्यों की समानता और शिक्षा हासिल

[1] डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 106

[2] वही, पृष्ठ - 104

करके आर्थिक उन्नति करने के अवसर उपलब्ध कराने जैसे जनतांत्रिक आदर्शों को अपनाने के लिए प्रेरित करने वाले अनेक आंदोलन उभर कर आए जिसका प्रभाव हम तत्कालीन साहित्यिक रचनाओं में देख सकते हैं।"[1] कहा जा सकता है कि आधुनिकतावाद तथा उत्तर - आधुनिकतावाद ने परम्परा को तोड़ते हुए यंत्रिकरण तथा व्यक्तिवादी मूल्यों को प्राथमिकता दी तथा व्यक्ति की सामाजिकता को खत्म करने का प्रयास किया।

उत्तर - आधुनिकतावाद ने साहित्य की आलोचना को भी प्रभावित किया। मार्क्सवाद के वर्गीय दृष्टिकोण के अन्तर्गत समग्रता में जो विमर्श चल रहे थे उनको अब टुकड़ों - टुकड़ों में दलित, स्त्री, आदिवासी, किसान आदि को केन्द्र में रखकर आलोचना की जाने लगी है, "उत्तर - आधुनिकता ने स्थानीय लघु आंदोलनों (जिनका गैर - राजनीतिक किस्म का चरित्र होता है) के समर्थन का ढोल पीटकर अपनी वैधता की रक्षा की है। इसमें पर्यावरण, नारीवादियों, अश्वेतों, दलितों, समलैंगिकों इत्यादि के आंदोलन सम्मिलित किए जाते हैं।"[2]

उत्तर - आधुनिकतावाद साहित्य अध्ययन की सभी दृष्टियों का नकार करते हुए तथा उनके अंत की घोषणा करते हुए स्वयं को स्थापित करती है, "उत्तर - आधुनिकतावादी दृष्टि सभी पुरानी दृष्टियों को 'पतनशील' तथा अर्थहीन मानती है। उत्तर - आधुनिकता घोषित तौर पर कहता है कि साहित्य में महान आख्यान (मेटा नैरेटिव) का युग समाप्त हो गया है और अब कोई न तो सर्वमान्य आलोचना सिद्धांत है, न हो सकता है। इसी आधार पर संरचनावाद, प्रतीकवाद, फ्रायडवाद, मार्क्सवाद, सौंदर्यशास्त्र, नई समीक्षा, अस्तित्ववादी विचार दृष्टि, मिथकीय आलोचना को उत्तर - आधुनिकतावाद ने नकार दिया है।"[3] मार्क्सवादी आलोचक इसे साहित्य के लिए एक खतरे के रूप में देखते हैं।

उत्तर - आधुनिकतावाद के अंतर्गत विखण्डनवाद, उत्तर - संरचनावाद आदि साहित्यिक सिद्धांतों का जन्म हुआ, जिनसे साहित्यिक अध्ययन की दृष्टि बदली। विखण्डनवाद में साहित्य को

---

[1] डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 106

[2] परिकथा, शंकर (सम्पा.), अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 47

[3] कृष्णदत्त पालीवाल, उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 23

खण्ड - खण्ड में बांटकर इसकी व्याख्या करने पर बल दिया गया है। साहित्यिक कृति को पूर्णता में देखने का यह पक्षधर नहीं है। विखण्डनवादियों का मानना है कि किसी भी कृति का सम्पूर्णता में अर्थ खोजना उचित नहीं है क्योंकि उसका प्रत्येक शब्द तथा प्रत्येक पंक्ति का अलग अर्थ होता है, "मूलतः यह हर प्रकार की केन्द्रीयता से - वह अर्थ की हो या वर्चस्व की, इन्कार करता है। विखण्डनवादी दृष्टि का मानना है कि हर पाठ की एक से अधिक व्याख्याएं संभव होती हैं। इसलिए उसकी कोई व्याख्या अंतिम व्याख्या नहीं हो सकती। व्याख्या की प्रामाणिकता का प्रश्न इसलिए बेमानी हो जाता है क्योंकि प्रामाणिकता का भी कोई प्रमाण नहीं होता।"[1]

इस प्रकार आलोचना रचना को प्रत्येक कोने से समझकर उसकी व्याख्या करती है। रचना के साथ तालमेल बैठाकर अनेक प्रक्रियाओं से होते हुए आलोचना का विकास होता है, जिसमें विचारधारा अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है। विचारधारा आलोचना के लिए खाद - पानी का काम करती है, बिना विचारधारा के आलोचना निर्जीव होती है। विचारधारा के तहत ही आलोचना के लिए अनेक सिद्धांतों का निर्माण हुआ है जिनके माद्यम से अलग - अलग रूपों में कृति की आलोचना होती है।

[1] निर्मला जैन, काव्य - चिंतन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 190

दूसरा अध्याय

आलोचना परम्परा और प्रमुख हिन्दी आलोचक

आलोचना अपने उदय से विकास तक अनेक पड़ावों से होकर गुजरी है, जिसका विकास अनेक पद्धतियों के माद्यम से आलोचकों ने किया है। रीतिकाल से प्रारम्भ हुई आलोचना आधुनिक युग में परिष्कृत हुई तथा उसका पूर्ण विकास हुआ शुक्ल युग में। लगातार नए प्रतिमानों का निर्माण तथा आलोचकों की प्रतिबद्धता ने आलोचना को विकास के चरम पर पहुंचाया है। आलोचना की इस विकास यात्रा को आलोचना की परम्परा तथा आलोचकों के योगदान से समझा जा सकता है।

2.1 आलोचना परम्परा

संस्कृत काव्यशास्त्र की समृद्ध परम्परा में भरतमुनि से प्रारम्भ होकर जगन्नाथ तक काव्य के सभी गुण - दोषों का विवेचन मौलिक स्थापनाओं व सिद्धान्तों के आधार पर होता रहा। रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि को आधार बनाकर जो काव्यालोचना होती रही वह काव्यशास्त्रीय परम्परा की ही देन थी। रीतिकालीन आचार्य इसी काव्यशास्त्रीय परम्परा की लीक पर चलते रहे जिन्होंने काव्यचर्चा को लक्षणग्रन्थों तक सीमित कर दिया। नायिका - भेद, नख - शिख वर्णन तथा लक्षण - ग्रन्थों तक ही रीतिकालीन आचार्यों की दृष्टि पहुँच पाई। मौलिक सिद्धान्तों का निर्माण यह आचार्य नहीं कर पाए जिस कारण आलोचना का विकास इस काल में नहीं हो पाया।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारतीय समाज में आधुनिक काल का आगमन हुआ, जिसने इतिहास, समाज व साहित्य को पूरी तरह प्रभावित किया। आधुनिक काल में शिक्षा में अंग्रेजी माध्यम और अंग्रेजी के प्रचार - प्रसार के कारण पढ़े - लिखे लोगों की एक पूरी जमात पैदा हुई, समाज - सुधार के अनेक आन्दोलन समाज में उभरे और नवजागरण का आगाज हुआ। सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों, धार्मिक - रुढ़िवाद के खिलाफ चले आन्दोलनों ने भारतीय जनमानस को

पूरी तरह प्रभावित किया। साहित्य भी इन प्रभावों से अछूता नहीं रह सकता था। आधुनिकता की इन विशेषताओं को साहित्य व आलोचना ने ग्रहण किया। इसी समय हिन्दी में गद्य आलोचना का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग में पाश्चात्य साहित्य से सम्पर्क तथा बौद्धिक जागृति के साथ आधुनिक समीक्षा का जन्म हुआ।प्रेस व गद्य के विकास से मध्यकालीन आलोचना के स्वरूप में पाश्चात्य समीक्षा प्रणाली के सम्मिश्रण से आलोचना के नये प्रतिमान बनने लगे। रचनाकारों की चिन्ता साहित्य निर्माण के साथ - साथ जनरुचि के परिष्कार की बनी।

शुरुआती दौर में पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षा के रूप में ही आलोचना आगे बढ़ रही थी। 1877 से 1910 तक प्रकाशित पत्रिका 'हिन्दी प्रदीप' ने हिन्दी में गम्भीर आलोचना की शुरुआत की। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'भारतमित्र', 'ब्राह्मण' आदि पत्रिकाओं में भी आलोचनात्मक लेख छपने लगे थे। भारतेन्दु युग की आलोचना रीतिकालीन रूढ़ियों से मुक्त होकर ही सार्थक हुई। जिसकी सार्थकता की भूमि में सक्रिय रहा स्वाधीनता आन्दोलन और पाश्चात्य साहित्य - चिन्तन का प्रभाव। इस युग में नई विधाओं के उद्भव व नई रचनाशीलता के विकास से हिन्दी आलोचना के मूल्यों में भी परिवर्तन व विकास हुआ। समाज व जीवन के यथार्थ के बदल जाने से रचना का रूप बदला और रचना के साथ ही बदली आलोचना। हिन्दी आलोचना की परम्परा को समग्रता में जानने के लिए प्रमुख आलोचकों के आलोचना - कर्म का अध्ययन आवश्यक है।

2.2 प्रमुख हिंदी आलोचक

हिंदी आलोचना के प्रारम्भ तथा उसके विकास में अनेक आलोचकों ने अपना योगदान दिया है। कुछ महत्त्वपूर्ण आलोचकों का परिचय हम यहां देंगे जिनके विवेक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हिंदी आलोचना पली - बढ़ी व परिपक्व हुई है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850 - 1885)

भारतेन्दु युगनिर्माता साहित्यकार थे। उन्होंने 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' व 'बाला बोधिनी' में प्रकाशित अपने विचारों से भाषा और साहित्य के परिष्कार के साथ - साथ आधुनिक हिन्दी आलोचना का स्वरूप निर्माण किया है। भारतेन्दु जी ने कालिदास, जयदेव और

सूरदास की चरितावली लिखी जिससे हिन्दी आलोचना का स्वरूप विकसित हुआ। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में नाटकों के बारे में विचार प्रकट किए हैं। 'नाटक' नामक निबन्ध में आलोचनात्मक गुणों के कारण ही भारतेन्दु को हिन्दी का पहला आलोचक भी माना जाता है। 1883 ई. में प्रकाशित इस 'नाटक' नामक रचना से ही आलोचना की विधिवत शुरुआत मानी जाती है। भारतेन्दु ने 'नाटक' पर चर्चा उसकी प्रकृति, जनरुचि व नाट्यशास्त्र के अनुसार की। जनरुचि के अनुसार नाट्यशास्त्र के नियमों में परिवर्तन को भारतेन्दु ने जरुरी माना और हिन्दी नाटकों के स्वरूप - निर्धारण की रूपरेखा तैयार की। रीतिकाल की दरबारी संस्कृति से पोषित साहित्य को भारतेन्दु ने ('अन्धेर नगरी' जैसे प्रहसन में राजाओं पर व्यंग्य करते हुए) चुनौती दी व साहित्य के नए सरोकार स्थापित किए।

हिन्दी के आलोचकों ने भारतेन्दु की आलोचना के महत्त्व को स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "भारतेन्दु ने जीवन और साहित्य के विच्छेद को दूर कर हिन्दी साहित्य को एक नए मार्ग पर खड़ा किया जिससे उसमें नए विचारों और भावनाओं का संचार हो सका।"[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने भारतेंदु के साहित्य को जनसाहित्य की संज्ञा दी।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भारतेंदु के साहित्य में मानव - संवेदना को रेखांकित किया, उनके अनुसार, "भारतेन्दु के समय तक स्थिति में काफी परिवर्तन हो चुका था और छन्द एवं लक्षण निरुपण की जगह मानव सम्वेदना और अनुभूति की गहराई ने ले ली थी।"[2] संवेदना तथा अनुभूति पर आधारित भारतेंदु का साहित्य समानता तथा भाईचारे का साहित्य है।

चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' (1855 - 1923)

चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' ने 'नीलदेवी' व 'बंग विजेता' की समीक्षाएं लिखी। उन्होंने 'आनन्द कादम्बिनी' में 'परीक्षा गुरू' व 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना लिखकर उस युग के आलोचकों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। अनेक विषयों पर अपनी लेखनी चलाते हुए

[1] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 234

[2] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 56

इन्होंने समूचे जीवन पर दृष्टिपात किया। लेखक के साथ - साथ पत्रकार होने के कारण ही इन्होंने पैनी दृष्टि से ज्ञान - विज्ञान के नए आलोक में साहित्य व जीवन के सम्बन्धों को समझा। प्रेमघन ने समालोचना को दर्पणतुल्य मानते हुए लिखा है, "सच्ची समालोचना एक स्वच्छ दर्पण तुल्य है कि जो शृंगार की सजावट को दिखाती है और उसके दोषों तथा साहित्य की दृष्टाकृति को बतलाती है।"[1]

बालकृष्ण भट्ट (1844 - 1914)

बालकृष्ण भट्ट ने साहित्य को सामाजिक भावनाओं से युक्त माना व इसे समाज की सम्पूर्णता में देखने का आग्रह किया। बालकृष्ण भट्ट ने अपने लेख 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास' में साहित्य का उद्देश्य बहुत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया। भट्ट जी ने 'नीलदेवी' नाटक तथा 'परीक्षागुरु' उपन्यास की समीक्षा की। भट्ट जी की परीक्षागुरु, संयोगिता स्वयंवर और एकांतवासी योगी की समीक्षा पत्रिकाओं में छपी, "शुक्ल जी ने बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकों को नई आलोचना का जन्मदाता कहा है।"[2]

"बालकृष्ण भट्ट कविता में रीतिवाद के विरोधी थे। कविता को अतिशय बनाव शृंगार से मुक्त करके वे उसके हृदय के छूने और सीधे प्रभावित करने वाले गुण को प्रोत्साहित करने वाले आलोचक थे।"[3] अक्तूबर 1886 में 'हिन्दी प्रदीप' में 'सच्ची कविता' शीर्षक लेख में उन्होंने स्वछंदतावाद को महत्त्व देते हुए रीतिवाद का विरोध किया है। बालकृष्ण भट्ट के योगदान को रेखांकित करते हुए मधुरेश ने लिखा है कि "हिन्दी आलोचना के विकास में बालकृष्ण भट्ट की भूमिका, भारतेन्दु युगीन किसी भी दूसरे आलोचक की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और दूरगामी है। वे परवर्ती आलोचना को गहराई से प्रभावित ही नहीं करते, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचक - व्यक्तित्व की संभावनाएं भी जगाते हैं। अपने ही 'हिन्दी प्रदीप' में 'साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है' शीर्षक अपना सुप्रसिद्ध निबन्ध उन्होंने 1881 में लिखा था। अपने इसी निबन्ध में

[1] मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 22

[2] रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 189

[3] मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 18

उन्होंने साहित्य को व्यापक जनसमूह से जोड़कर साहित्य में रीतिवाद के विरुद्ध विधिवत अभियान छेड़ा।"[1]

महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864 - 1938)

द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के माध्यम से हिन्दी की रचनाओं के साथ - साथ आलोचना का भी विकास किया। द्विवेदी जी के लेखन में अतीत की भूमि के साथ नवीनता का आह्वान था। वे जन साधारण की रुचि का परिष्कार करना साहित्य की अनिवार्य शर्त मानते थे। उनका मानना था कि साहित्य सिर्फ मनोरंजन तक सीमित नहीं होना चाहिए बल्कि उसमें सामाजिक विकास की बात भी होनी चाहिए। नंददुलारे वाजपेयी जी के अनुसार "इस युग के प्रवर्तक 'पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी' ने नवीन युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्य निर्माण की प्रेरणा दी और अपनी समीक्षा में उन्हीं कृतियों को महत्त्व दिया जो सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय विकास की भावनाओं से ओत - प्रोत थी।"[2] द्विवेदी जी ने साहित्य को संजीवनी शक्ति और प्रेरणा माना व सामाजिक दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या की।

सरस्वती में द्विवेदी जी ने परिचयात्मक आलोचना को प्रोत्साहन दिया तथा आलोचक के कर्तव्य का निर्धारण करते हुए लिखा 'किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है वह विशेष उपयोगी है या नहीं है, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं हो सकता, उससे किसी को भी लाभ पहुंच सकता है या नहीं पहुंच सकता। लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं लिखी है। यही विचारणीय विषय हैं, जो आलोचना में आने चाहिए। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।' द्विवेदी जी ने रचना की सामाजिकता पर बल दिया "महावीर प्रसाद द्विवेदी आलोचना में जिस सामाजिक और नैतिक आग्रह पर बल दे रहे थे उसमें शृंगार रस की अतिरंजित भूमिका का विरोध भी शामिल था।"[3]

---

[1] मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 17

[2] श्री रामप्रसाद त्रिवेदी, प्रगतिवादी समीक्षा, ग्रंथ प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ - 88

[3] मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 31

पदमसिंह शर्मा (1876 - 1932)

पदमसिंह शर्मा (1876 - 1932) ने 'बिहारी सतसई' की तुलनात्मक आलोचना की। 1907 में इनकी 'बिहारी और देव' पुस्तक आई। उन्होंने बिहारी सतसई के दोहों का मिलान 'आर्यासप्तशती'व 'गाथा सप्तशती' के पद्यों के साथ किया। बिहारी की अन्य कवियों के साथ तुलना करने के पीछे उनका उद्देश्य बिहारी पर लगे आक्षेपों (जो देव को श्रेष्ठ कवि सिद्ध करने के लिए अन्य आलोचकों द्वारा लगाए गए थे) को हटाकर उन्हें देव से श्रेष्ठ सिद्ध करना था। पदमसिंह शर्मा काव्य में चमत्कार खोजते थे और जहां भी उन्हें थोड़ा सा भी चमत्कार मिल जाता उसे पूरी तड़क - भड़क के साथ कहते थे। आचार्य शुक्ल ने इनकी जादूगरी भरी शैली को, "बिना जरुरत के जगह - जगह चुहलबाजी और शाबाशी का महफिली तर्ज।"[1] कहा है। पदमसिंह शर्मा ने हिन्दी आलोचना को विस्तृत रूप प्रदान किया जिससे आलोचना में नवीन पद्धतियों का प्रादुर्भाव हुआ।

शृंगार को काव्य के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हुए पदमसिंह शर्मा ने लिखा है, "बहुत से महापुरुष कविता की उपयोगिता को स्वीकार तो किसी प्रकार कर लेते हैं पर शृंगार रस उनके निर्मल नेत्रों में कुछ खार - सा या तेजाब - सा खटकता है। वह शृंगार की रसीली लता को विषैली समझकर कविता की वाटिका से एकदम जड़ से उखाड़ फेंकने पर तुले खड़े हैं"[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1884 - 1940)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना द्विवेदी युग से खाद - पानी ग्रहण करके सामाजिकता, नैतिकता, स्वस्थ भारतीय परम्परा के प्रति प्रेम व रचना के भावों को महत्त्व देते हुए आगे बढ़ी, "आचार्य शुक्ल हिन्दी प्रदेश की पददलित और अपमानित जनता के सम्मान रक्षक थे। विरोधियों से ज्यादा बहस में न पड़कर उन्होंने हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने का बीड़ा उठाया।"[3]

---

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 63

[2] मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 31

[3] रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 178

सामंजस्यमयी प्रवृति व लोकमंगल की भावना ने शुक्ल जी को आलोचना परम्परा के शीर्ष पर बैठाया। शुक्ल जी की लोकमंगल की भावना उनके लोक के प्रति मोह का ही परिणाम है। उनका मानना है कि "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है। लोक के भीतर ही कविता क्या, किसी भी कला का प्रयोजन या विकास होता है।"[1] उन्होंने साहित्य को 'जनता की संचित प्रवृतियों का बिम्ब' माना। शुक्ल जी ने जनतांत्रिक साहित्य की वकालत की। साहित्य के गतिशील रूप को महत्ता देने के कारण शुक्ल जी यथार्थवादी आलोचक कहलाए, "शुक्ल जी सहृदय आलोचक हैं। तर्कशास्त्री से अधिक वह भावुक साहित्य - प्रेमी हैं। उनकी तर्क - योजना में चूक हो सकती है, सहृदयता में नहीं।"[2]

शुक्ल जी आलोचना के एकांगीपन को रचना के लिए घातक मानते हैं व आलोचना के सभी अंगों पर समान बल देते हैं। वाजपेयी जी के अनुसार, "उनका संदेश यह है कि साहित्य की समीक्षा किसी एक अंग या पहलू पर समाप्त न हो जानी चाहिए बल्कि वह सब अंगों को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए।"[3]

शुक्ल जी ने साहित्यिक विचारों पर ध्यान देने के साथ - साथ पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, विद्यापति की पदावली की शृंगारिकता व भक्ति सम्बन्धी बहस पर अपनी राय भी दी। प्राचीन के साथ नवीन का तालमेल बैठाने में शुक्ल जी सिद्धहस्त थे। निर्मला जैन के अनुसार, "आचार्य शुक्ल के हाथों में वस्तुतः हिन्दी की निजी प्रौढ़ आलोचना शैली का विकास हो चुका था। यह शैली पश्चिम के कलावाद और हिन्दी के मध्ययुगीन अलंकार रीतिवाद से भिन्न हिन्दी की अपनी ठेठ मौलिक आलोचना शैली थी। उनकी आलोचना की खास बात यह थी कि उन्होंने शास्त्र की सर्वथा मौलिक व्याख्या कर उसे आधुनिक और समयापयोगी बनाया।"[4]

शुक्ल जी के आलोच्य विवेक पर पश्चिम का जितना प्रभाव है उतना ही नकार भी। हिन्दी आलोचना को संस्कृत आलोचना से अलग करने के लिए उन्होंने पश्चिमी काव्य - मूल्यों की

---

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणिः भाग - 1, श्रीवास्तव इंडियन प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 23

[2] डा. रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 207

[3] शिवकुमार मिश्र, हिन्दी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 162

[4] निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 38

सहायता जरूर ली लेकिन पश्चिमी आलोचना को सर्वश्रेष्ठ समझने की बजाय उन्होंने क्रोचे के 'अभिव्यंजनावाद' को 'स्वच्छन्दतावाद' का विलायती उत्थान तक कहने की हिम्मत दिखाई, "शुक्ल जी की आलोचना - पद्धति न तो रीतिशास्त्रों का अनुसरण करती है, न पश्चिम के काव्यशास्त्र का।"[1] शुक्ल ने हिन्दी आलोचना के वैचारिक विकास में जो योगदान दिया है उसी साहित्य चिन्तन और विवेक निर्माण की प्रक्रिया को समझते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इतिहास, दर्शन, भाषाशास्त्र, विज्ञान और साहित्य सम्बन्धी नए पुराने चिन्तन की वैचारिक यात्रा करने के बाद एक सुनिश्चित अर्जित नई दृष्टी से ही परम्परा के मूल्यांकन, वर्तमान की अवस्थाओं की पहचान और भावी विकास की दिशा खोजने का प्रयास किया।"[2] आचार्य शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा को एक दिशा दिखाई तथा नई भाषा दी। इस प्रकार, "शुक्ल जी हिन्दी समीक्षा का सम्पूर्ण वैभव समेटकर खड़े हुए"[3] पर हमें यह भी ध्यान देने की जरुरत है कि इस सम्पूर्णता में गद्य विधाओं (उपन्यास, कहानी, नाटक आदि) का मूल्यांकन न के बराबर है, वे मात्र कविता की चीर - फाड़ में ही लगे रहे। गद्य में भारतेन्दु और प्रेमचन्द पर टिप्पणी करते हुए वे आगे बढ़ गए हैं, "शुक्ल जी की सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना को एक ठोस आधार दिया।"[4]

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी (1906 - 1967)

वाजपेयी जी ने 'नया साहित्य: नए प्रश्न', 'हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी', 'महाकवि सूरदास' आदि रचनाओं में काव्य - तत्व के रूप में अनुभूति व कल्पना को महत्त्व प्रदान किया। वे चेतना संपन्न अनुभूति को काव्य की प्रेरणा और प्रयोजन दोनों ही रुपों में स्वीकार करते हैं। उनकी आत्मानुभूति में ही मानव - मुक्ति की प्रेरणा निहित है। कला तथा साहित्य में दार्शनिक व साहित्यिक सिद्धान्तों के आधार पर व्याख्या करने के वे विरोधी रहे। उनका मानना है कि "किसी पूर्व निश्चित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर कला की परीक्षा नहीं की जा सकती।

---

[1] डा. रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 191

[2] डा. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 91 - 92

[3] नामवर सिंह, हिन्दी का गद्यपर्व, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 123

[4] डा. रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 12

सिद्धान्त का दायरा सीमित होता है, जबकि कला की कोई सीमा नहीं है, उसे किसी बन्धन में नहीं बांधा जा सकता। केवल सौन्दर्य की परख के कोई निश्चित आधार नहीं बताए जा सकते।"[1] इसी मत के कारण वाजपेयी जी ने रस सिद्धान्त व शुक्ल जी की समीक्षा दृष्टि की कमियों का उल्लेख किया। शुक्ल जी के शिष्य होने के बावजूद इन्हें शुरू से ही उनसे असहमति थी और इन्होंने यहाँ तक कहा कि 'शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के बालारूण हैं।' ये हिन्दी के पहले आलोचक हैं जो शुक्ल के प्रत्यक्ष विरोधी रहे, "नंददुलारे वाजपेयी ने विश्वविद्यालय में छात्र रहते हुए शुक्ल जी के काव्य - प्रतिमानों को दृढ़ता से अस्वीकार कर दिया।"[2] वाजपेयी जी ने भक्तिकाल का प्रश्न उठाते हुए भक्तिसम्बन्धी आलोचना में तुलसी के बजाय सूरदास को महत्त्वपूर्ण माना जिससे तुलसीदास व कबीर के अलावा सूरदास के रूप में तीसरी परम्परा सामने आयी। वाजपेयी जी ने निराला व प्रसाद के पक्ष में काम किया व प्रेमचन्द की आलोचना की। भक्तिकाल व छायावाद में वाजपेयी का महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप रहा, "वाजपेयी जी ने एक तरफ लोकमंगल और नैतिकता की बात का जोरदार खण्डन किया वहीं छायावाद और रहस्यवाद के समर्थन में खड़े हुए।"[3] वाजपेयी जी का रस सम्बन्धी मत मानवतावादी है। वे रस की स्थिति व्यक्तिक अनुभूतियों की बजाय सार्वजनिक सुख - दुख में मानते हैं। वाजपेयी जी विज्ञान के फेर में न पड़कर साहित्यिक मूल्यों को महत्त्व देते हैं। उनका मानना है कि "उँचे - उँचे आदर्श, नैतिकता, बौद्धिकता आदि साहित्य का नियन्त्रण नहीं कर सकते। साहित्य की स्वतंत्र सत्ता, स्वतंत्र प्रक्रिया और उसकी परीक्षा स्वतंत्र साधन है। साहित्य मानव की उद्भावना या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसकी परीक्षा बाह्य स्थूल व्यापार या बौद्धिक संस्कारों के द्वारा नहीं की जा सकती।"[4] वाजपेयी जी विशुद्ध साहित्यिक संवेदना व अनुभूति के पक्षधर हैं।

नंददुलारे वाजपेयी उपयोगितावाद व कलावाद दृष्टियों का नकार करते हैं। आलोचना के लिए वे समसामयिक समस्याओं, परिस्थितियों व विचारधाराओं को महत्त्व देते हैं जिनको जाने

---

[1] डा. नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 83

[2] नामवर सिंह (सम्पा.), आलोचना, अंक - 48, पृष्ठ - 24

[3] डा. रतन कुमार पाण्डेय, आलोचक और आलोचना सिद्धान्त, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ - 48

[4] डा. नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 44

बिना आलोचना सम्भव नहीं है। अपनी पुस्तक 'आधुनिक साहित्य' की भूमिका में लिखते हैं कि "जीवन और समाज के स्थिर और गतिशील दोनों तत्व साहित्य सर्जन के लिए अनिवार्य हैं। इसलिए मैं समीक्षा का भविष्य उन प्रतिभा संपन्न अध्ययनशील लेखकों पर अवलम्बित मानता हूँ, जो साहित्यिक परंपराओं के साथ ही समय और समाज की विकासोन्मुख प्रवृतियों को पहचानते हैं।"[1] साहित्य क्योंकि समाज की सजग और शक्तिशाली चेतना को प्रभावित करता है इसलिए साहित्यकार का समसामयिक होना जरुरी है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (1907 - 1979)

द्विवेदी जी ने सूर साहित्य, हिन्दी साहित्य की भूमिका, कबीर, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, साधना, नाथ संप्रदाय, मेघदूत: एक पुरानी कहानी, कालिदास की लालित्य योजना, मृत्युंजय रवीन्द्र, लालित्य तत्व, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद आदि रचनाओं के माध्यम से हिन्दी आलोचना को शीर्ष पर पहुँचाया, "मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा और उसकी अपराजेय जययात्रा में दृढ़ विश्वास ही द्विवेदी जी को ज्ञान और पाण्डित्य के क्षेत्र में निरंतर उत्कर्ष की ओर प्रवृत्त करता रहा और उन्होंने जो कुछ प्राप्त किया, वह किसी की कृपा से नहीं बल्कि अपने ही श्रम और अपनी ही भीतरी ऊर्जा के बल पर।"[2] द्विवेदी जी ने 'कबीर' नामक पुस्तक में जो कबीर का व्यक्तित्व - विश्लेषण किया है वह उनके सम्पूर्ण आलोचना कर्म का अदभुत परिचय है। द्विवेदी जी ने ऐतिहासिक व सांस्कृतिक दृष्टि के साथ 'कबीर' की जो आलोचना की है वह महत्त्वपूर्ण है। कबीर पर अन्य आलोचकों द्वारा लगाए गए आरोपों को द्विवेदी जी ने खारिज किया और जब कबीर की भाषा को कुछ आलोचक असाहित्यिक और ऊटपटांग कह रहे थे तब द्विवेदी जी ने कबीर को 'वाणी का डिक्टेटर और व्यंग्य का बादशाह' कहा, "चिन्तन क्रम में द्विवेदी जी जहां परम्परा से प्राप्त हिन्दी साहित्य के इतिहास के मानचित्र को बदलकर एक दूसरा मानचित्र प्रस्तुत करते हैं, वहीं साहित्य - सम्बन्धी एक नई मान्यता भी सामने आती है। इस प्रकार एक नए इतिहास के साथ आलोचना का एक नया मान भी

[1] डा. नंददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 2

[2] विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य अकादमी, दिल्ली, पृष्ठ - 11

दृष्टिगोचर होता है। 'कबीर' के साथ इतिहास की एक भिन्न परम्परा ही नहीं आती, साहित्य को जांचने - परखने का एक प्रतिमान भी प्रस्तुत होता है।"[1]

मनुष्य को मुख्य व बाकी सब चीजों को गौण मानने वाले द्विवेदी का दृष्टिकोण मानवतावादी है। 'सूर साहित्य' की रचना करते हुए उन्होंने लोकजीवन की धारा को स्पष्ट किया है। उनकी दृष्टि में सूरदास की गोपियों का प्रेम परिवार, व समाज की मान्यताओं को तोड़ता है, इसी कारण वे सूरदास जी को लोकवादी मानते हैं। इसी तरह से सिद्धों और नाथों के काव्य को भी वे उसकी सामाजिकता के कारण महत्त्वपूर्ण मानते हैं जिनमें जात - पात, आडम्बरों व रुढ़ियों का खण्डन किया गया है।

द्विवेदी जी साहित्य रचना में जनरुचि का जितना ध्यान रखते हैं उतना ही जनभाषा का भी रखते हैं। उनका मानना है कि लोकभाषा ही वास्तविक व सच्ची भाषा है। जिसमें सपाटता व सीधापन है, न कहीं घुमाव - फिराव है और ना ही शैली में कोई आडम्बर। लोकभाषा को साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण मानने वाले द्विवेदी की रचनात्मक भाषा पर लोकभाषा का प्रभाव है, "लोक - जीवन की भूमि से द्विवेदी जी को हिन्दी की अपनी जातीय परम्परा और भावबोध विरासत में मिला।"[2]

द्विवेदी जी इतिहास को घटनाचक्र नहीं बल्कि जीवन का प्रवाह मानते हैं, जिसमें संघर्ष की प्रेरणा निहित होती है। द्विवेदी जी ने आदिकाल से भक्तिकाल और फिर इतिहास और आधुनिकता की बहस में जीवन व साहित्य के प्रत्येक पहलू को छूआ है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का आलोचना कर्म अपनी व्यापकता व मौलिकता के लिए जाना जाता है। नामवर सिंह ने 'दूसरी परम्परा की खोज' में द्विवेदी जी के साहित्य के बारे में लिखा है कि "साहित्य में आत्मवेदना का ऐसा अनावृत स्वर तुलसी और शायद निराला के बाद यहीं सुनने को मिलता है।"[3] शुक्ल के समकक्ष द्विवेदी स्वयं दूसरी परम्परा का परिनिधित्व करते हैं। नामवर सिंह ने साहित्य की इस दूसरी

---

[1] नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 20 - 21

[2] वही, पृष्ठ - 18

[3] वही, पृष्ठ - 139

परम्परा को द्विवेदी के माध्यम से कबीर के रूप में खोजा है, "दूसरी परम्परा की खोज सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक स्तर पर हिन्दी गद्य आलोचना की चरम परिणति है।"[1]

प्रकाशचन्द्र गुप्त (1908 - 1970)

गुप्त जी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य: एक दृष्टि (1952), हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा(1953), साहित्यधारा(1956), नया हिन्दी साहित्य एक दृष्टि (1955) आदि आलोचनात्मक कृतियों की रचना की।

प्रकाशचन्द्र गुप्त का हिन्दी आलोचना में प्रादुर्भाव 1935 - 36 के आस - पास हुआ जो प्रगतिशील आन्दोलन के उद्भव का भी समय था। 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा' में हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालखण्डों की प्रवृतियों का मार्क्सवादी दृष्टि से अध्ययन किया। गुप्त जी का मानना है कि साहित्य सिर्फ अन्तर्मन की अनुभूतियों और कल्पनाओं से ही नहीं रचा जाता बल्कि सामाजिक यथार्थ का पुट भी साहित्य में जरुरी है। गुप्त जी उच्च कोटी का साहित्य उसी को मानते हैं जो विचारों व अनुभूतियों के आधार पर साहित्य रचना करके समाज में बदलाव ला सके तथा विसंगतियों से लड़ने की प्रेरणा दे सके।

प्रकाशचन्द्र गुप्त की आलोचना दृष्टि एकांगी न होकर समग्रतावादी है। गुप्त जी साहित्य के लिए जनसाधारण की भाषा को ग्रहण करना जरुरी समझते हैं क्योंकि जिन लोगों के लिए साहित्य की रचना की जाती है वे साधारण भाषा में ही उसे समझ सकते हैं और इसी से रचनाकार का उद्देश्य पूरा होता है। गुप्त जी की सैद्धान्तिक आलोचना जहां जीवन के यथार्थ चित्रण की बजाय जीवन की सतत गतिशीलता में निहित है वहीं व्यावहारिक आलोचना सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों के विश्लेषण की पक्षधर है।

गुप्त जी मध्ययुगीन साहित्य का विश्लेषण करते हुए उसे चेतना सम्पन्न साहित्य मानते हैं। जनता के दुख - दर्द और वेदना से पूर्ण यह युग साहित्य में मानव जीवन की प्रतिष्ठा का ध्येय रखता है। गुप्त जी ने संत कवियों की विचारधारा को 'मानवतावादी विचारधारा' कहा है। उनके अनुसार

[1] नामवर सिंह (सम्पा.), आलोचना, अंक - 48, पृष्ठ - 40

कबीर के काव्य में मनुष्य का महत्त्व सर्वोच्च है तो सूरदास जीवन की अनुभूतियों से सराबोर है और तुलसी लोक जीवन के संवाहक। भारतेन्दु युग के साहित्य को गुप्त जी 'युग संधि का साहित्य' कहते हैं। जिसमें काव्य की प्राचीनता के साथ गद्य की नवीनता मौजूद है।

शमशेर बहादुर सिंह (1911 - 1993)

मूलतः कवि होने के साथ शमशेर बहादुर सिंह एक प्रखर आलोचक थे। अज्ञेय के 'तार सप्तक' में नई कविता को नई दृष्टि मिली। दूसरे 'तार सप्तक' में शमशेर बहादुर सिंह को प्रमुख स्थान मिला। एक समीक्षक के रूप में शमशेर की समीक्षाएं समकालीन साहित्य पर 'हंस' तथा 'नया साहित्य' में छपने लगी थी। 1947 में वे एक आलोचक के रूप में हिन्दी आलोचना जगत में उभरे। 1948 में उनकी आलोचनात्मक पुस्तक 'दो आब' आई। शमशेर ने सुभद्रा कुमारी चौहान, सुमित्रानंदन पंत, नरेन्द्र शर्मा, हरिवंश राय बच्चन आदि की रचनाओं की समीक्षा की। सुभद्रा कुमारी चौहान को शमशेर 'राष्ट्रीय बसन्त की प्रथम कोकिला' कहते हैं। वे कहते हैं कि सुभद्रा कुमारी चौहान के काव्य में कोई छलावा या तीखापन नहीं है बल्कि दर्द, उमंग और संवेदना है जो उनके काव्य को उत्कृष्ट बनाते हैं। पंत की काव्य यात्रा का वर्णन करते हुए वे 'ग्राम्य' और 'पल्लव' के माधुर्य और भावों के संतुलन को मनमोहक बताते हैं। छायावादी कवियों की मुक्त छंद प्रवृति के बारे में प्रचार को वे जल्दबाजी समझते हुए कहते हैं कि "मुक्त छंद का हिन्दी के सन्दर्भ में अभी विवेचन नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम निराला, प्रसाद, पंत आदि की काव्यकला का विश्लेषण अभी मोटे तौर से भी नहीं हो सका है।"[1] बच्चन शमशेर के प्रिय कवि हैं उनकी चर्चित कविता 'बंगाल का काल' में वर्णित अकाल की स्थिति और धर्मनिरपेक्षता के अभाव का जो वर्णन है उसे शमशेर ने बहुत पसंद किया। हिन्दी के कहानीकारों अश्क और कृश्नचन्दर के अलावा उन्होंने उर्दू साहित्य पर भी लिखा। अल्ताफ हुसैन 'हाली' और मैथिलीशरण गुप्त का तुलनात्मक अध्ययन शमशेर ने किया।

[1] डा. रामबक्ष, समकालीन हिन्दी आलोचक और आलोचना, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृष्ठ - 211

शमशेर बहादुर सिंह रचना में डूबकर मुग्धभाव से उसकी समीक्षा करते हैं। उन्होंने धैर्यवान और संवेदनशील आलोचक के रूप में पहचान बनाई। शमशेर के चिंतन का मुख्य बिन्दु प्रभाववादी आलोचना है, वे कृति का प्रभाव ग्रहण कर उसके प्रभाव का विश्लेषण करते हुए ही आलोचना करते हैं। शमशेर की एक खासियत यह भी है कि वे निर्ममतापूर्ण बात को भी बहुत उदारता के साथ कह जाते हैं। वे आलोचक के रूप में अपना पक्ष जरुर रखते हैं लेकिन किसी का विरोध करने के लिए नहीं। शमशेर का मानना है कि रचना और रचनाकार की प्रकृति को जानना आलोचक का मुख्य धर्म है। वे लेखक और उसकी लेखनी से बहुत प्यार करते हैं, और रचना पर मुग्ध होकर आलोचना लिखते हैं। 1941 में लिखे 'मुक्त छंद' नामक निबंध में शमशेर ने आलोचना के कर्म, उसके दायित्व एवं स्वरूप पर अपने विचार रखे हैं। शमशेर का मानना है कि किसी भी काल के साहित्य को बारीकि से जाने बिना उस काल की प्रवृतियों के बारे में अपनी राय नहीं दी जा सकती।

रामविलास शर्मा (1912 - 2000)

शर्मा जी की प्रमुख रचनाएं भारतेन्दु युग (1946), संस्कृति और साहित्य (1949), लोक जीवन और साहित्य (1951), प्रेमचन्द और उनका युग (1952), प्रगति और परम्परा (1953), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1953), प्रगतिशील साहित्य की समस्याएं (1954), निराला (1955), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना (1955), भाषा और समाज (1961), निराला की साहित्य साधना, भाग - 1, 2 और 3 (1966, 1972 और 1976), भारतीय सौन्दर्यबोध और तुलसीदास (2001), परम्परा का मूल्यांकन, भाषा, युगबोध और कविता आदि हैं।

प्रारम्भिक रचनाओं में शर्मा जी ने साहित्य की विभिन्न प्रवृतियों की व्यावहारिक समीक्षा की जिसका विकास बाद की प्रौढ़ सैद्धान्तिक समीक्षा में हुआ। उनका मानना है कि विचार और अनुभूति के बिना मात्र कला या कल्पना के सहारे उत्कृष्ट साहित्य की रचना नहीं की जा सकती, बल्कि इसके लिए कल्पना और विचार का समन्वय आवश्यक है। उनके अनुसार, "साहित्य में मनुष्य की बाह्य इन्द्रियां, हृदय और मस्तिष्क तीनों का समन्वय होता है। रूप, भावना तथा विचारों

की एकता से कला सृष्टि संभव है।"[1] रामविलास शर्मा का मानना है कि भावना या विचार समाज निरपेक्ष नहीं हो सकते, समाज में रहते हुए ही हमारे भाव व विचार बनते हैं। समाज में प्रगतिशील व प्रतिक्रियावादी तत्वों में जो द्वन्द्व चलता है उसी से समाज को गति मिलती है, इस गति को समझकर जनसाधारण से जुड़कर ही कोई साहित्यिक या आलोचनात्मक कृति प्रगतिशील बनती है।

डा. रामविलास शर्मा की साहित्य को समझने की मार्क्सवादी दृष्टी थी और इसी कारण भक्तिकाल के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास को जहाँ समन्वयवादी व लोकमंगलकारी समझा जा रहा था उस समय इन्होंने तुलसीदास की कृतियों में सामन्तवाद विरोधी मूल्यों की खोज करते हुए उनका नया रूप पेश किया, "आलोचना की जिस परम्परा को महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा ऐतिहासिक विवेक, आचार्य शुक्ल द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा आचार्य द्विवेदी ने सांस्कृतिक ऋद्धि और सृजनात्मक प्रकृति प्रदान की उसी समूची परम्परा से टकराकर रामविलास शर्मा ने उसे आत्मसात कर हिन्दी आलोचना को भविष्य - विधायक जुझारू चेतना प्रदान की।"[2] डा. शर्मा ने तुलसीदास व निराला पर सर्वाधिक लिखा, इनके अतिरिक्त भारतेन्दु, प्रेमचन्द, महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आलोचनात्मक पुस्तकें लिखकर प्रगतिशील आलोचना को आगे बढ़ाया। डा. शर्मा की आलोचना किसी वाद या शैली का अनुकरण मात्र नहीं है, यह भारतीय व पाश्चात्य शैलियों के सम्मिलन से विकसित मार्क्सवादी पद्धति पर विकसित मौलिक आलोचना शैली है। सर्वसमावेशी विद्वत्ता, विस्तृत लेखन व साहित्यिक - वैचारिक सरोकारों और लक्ष्यों की निरन्तरता व दृढ़ता ने उनको प्रसिद्धि दिलाई।

शर्मा जी ने हिन्दी व अंग्रेजी साहित्य के अलावा भाषा - विज्ञान, इतिहास, मार्क्सवाद, समाजशास्त्र आदि का अध्ययन किया जिससे उनकी दृष्टि का विकास तो हुआ ही साथ ही विस्तृत हुआ आलोचनात्मक लेखन। कहा जा सकता है कि भाषा, साहित्य, संस्कृति, इतिहास आदि सभी स्तरों पर बहुत सारे विवादों को झेलते हुए भी रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी आलोचना को समृद्ध

[1] डा. रामविलास शर्मा, लोक जीवन और साहित्य, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पृष्ठ - 56

[2] डा. रतन कुमार पाण्डेय, आलोचक और आलोचना सिद्धान्त, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 56

किया है। डा. निर्मला जैन के अनुसार, "डा. रामविलास शर्मा ने मार्क्सवादी दृष्टि से हिन्दी साहित्य की परम्परा की नई व्याख्या प्रस्तुत करके मार्क्सवादी आलोचना का सामर्थ्य स्थापित कर दिखाया"[1] शर्मा जी ने अध्ययन की नई - नई जगह तलाश करते हुए अपने लेखन में नए मूल्यों की स्थापना की।

अमृतराय (1915 - 1996)

साहित्य में संयुक्त मोर्चा, नई समीक्षा, आधुनिक भावबोध की संज्ञा सह चिंतन, प्रेमचन्द की प्रासंगिकता आदि पुस्तकों के लेखक अमृतराय पहले कथाकार हैं उसके बाद आलोचक। इनका आलोचनात्मक लेखन सीमित लेकिन महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने मार्क्सवादी आलोचना के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष का सम्यक निरुपण किया। अमृतराय की पुस्तक 'नई समीक्षा' मार्क्सवादी आलोचना पर आधारित है जिसमें मार्क्स के सिद्धांतों पर चर्चा है। मार्क्सवादी आलोचना से प्रेरित अमृतराय इस आलोचना की समाज व साहित्य के सम्बन्ध विषयक व्याख्या को सही मानते हैं।

अमृतराय समस्त साहित्य को वर्ग - विभक्त समाज का साहित्य मानते हैं। जो वर्गीय शोषण को सच्चाई के साथ उजागर करके शोषित वर्गों को साहित्य के जरिए क्रान्ति के लिए लामबद्ध भी करता है। साधारणीकरण और सामूहिक भाव में अमृतराय समानता देखते हैं, उनका मानना है कि साधारणीकरण लोकहृदय से सम्बन्ध रखता है और लोक हृदय में ही सामूहिक भावों का वास रहता है अतः दोनों का प्रयोजन एक ही है। विषमता है तो यह कि लोकहृदय का वर्णनकर्ता समीक्षक जनसमूह से जुड़ा रहता है जबकि साधारणीकरण में ऐसा नहीं है।

मानव प्रेम व सामाजिक बदलाव को अमृतराय प्रगतिशील साहित्य के मुख्य पहलू मानते हुए कहते हैं कि 'आज का प्रगतिशील साहित्य विश्व के मानवतावादी साहित्य का ही क्रांतिकारी विकास है।' साहित्यकार अपने वर्ग और परिस्थिति से प्रभावित होकर साहित्य रचना करता है, और उसके मानदण्ड युगसापेक्ष होते हैं। साहित्यकार जीवन की वास्तविकताओं को स्वीकार करके

[1] निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 61

ही परिवर्तनकामी साहित्य की रचना कर सकता है। सामाजिक यथार्थवाद के सम्बन्ध में बात करते हुए अमृतराय बताते हैं कि समाज में व्याप्त भूख, गरीबी, अशिक्षा, बेकारी आदि की चिंता समाजवादी साहित्यकार के साहित्य में मौजूद होती है, और जनविद्रोह के दमन की खिलाफत भी। यथार्थवाद का काम समाज के अच्छे व बुरे दोनों पक्षों को देखना व वर्णित करना है। 'आलोचना का मार्क्सवादी आधार' निबन्ध में अमृतराय मार्क्सवादी आलोचकों की साहित्य से अपेक्षा का जिक्र करते हुए कहते हैं कि साहित्यकार के लिए मार्क्सवादी बनना जरुरी नहीं है वरन जीवन के प्रति सच्चा बनना जरुरी है। अमृतराय की गोर्की, रविन्द्रनाथ टैगोर, प्रेमचन्द आदि के प्रति उदार व मानवतावादी दृष्टि का कारण उनके साहित्य का जनजीवन से जुड़ाव ही है। इसी सामाजिक प्रवृति के कारण ही अमृतराय ने महादेवी के लेखन का स्त्री स्वाधीनता के संदर्भ में विस्तृत अध्ययन किया है। अमृतराय मार्क्सवाद को खाँचाबद्ध सिद्धांत न मानकर जीवन से जुड़ा हुआ दर्शन मानते हैं।

अमृतराय की आलोचना की दो खास बातें रही हैं एक तो वे किसी भी कृति की समीक्षा से पहले भूमिका तैयार करते हैं, दूसरा वे मार्क्सवादी होते हुए भी मार्क्सवादी संकीर्णताओं से स्वयं को बचाए रखते हैं। अमृतराय की आलोचना की सार्थकता इन्हीं कारणों से है।

शिवदानसिंह चौहान (1916 - 2000)

प्रगतिवाद (1946), साहित्य की परख (1948), हिन्दी गद्य साहित्य (1952), हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष (1954), साहित्यानुशीलन (1955), आलोचना के मान (1958), साहित्य की समस्याएं (1958), प्ररिपेक्ष्य को सही करते हुए आदि चौहान जी की महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तकें हैं।

शिवदानसिंह चौहान ने 1937 में 'विशाल भारत' में 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' शीर्षक से लेख लिखा। जिसमें साहित्य पर पूंजीवाद का प्रभाव बताते हुए उन्होंने मार्क्सवादी विचारधारा को निरुपित किया। आलोचना पत्रिका के संस्थापक सम्पादक के रूप में काम करते हुए शिवदानसिंह चौहान ने आलोचना को नया रूप दिया। शिवदानसिंह चौहान अपने समकालीन साहित्य को ऐतिहासिक व मार्क्सवादी दृष्टि से देखते थे, जिसने आलोचना को एक

नया विवेक दिया। अपनी कृति 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' को उन्होंने सिर्फ आधुनिक हिन्दी साहित्य का ही नहीं बल्कि समग्र खड़ी बोली का इतिहास माना है।

शिवदानसिंह चौहान पर जहां अतिमार्क्सवादी होने के आरोप लगते रहे हैं वहीं यह बात भी देखने की है कि उन्होंने माना कि मार्क्सवाद और अध्यात्म का समन्वय जरुरी है पंत जी के सन्दर्भ में उन्होंने एक जगह लिखा है, "पंत जी ही ऐसे युगदृष्टा विचारक हैं, जिन्होंने मार्क्सवादी विचार दर्शन की सीमाओं को उस समय ही देख लिया था जबकि उसके नाम से चंद व्यक्ति ही इस देश में परिचित थे।"[1] सैद्धान्तिक आलोचना में मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि रखने वाले चौहान जी की रचनाओं में मूलतः समन्वय देखने को मिलता है, "मार्क्सवादी आलोचना और सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी उनकी चिंताएं अधिक संतुलित और व्यापक हैं। जैसा कि हिन्दी के और भी प्रगतिवादी आलोचकों के साथ था, उनके लिए भी विचारधारात्मक संघर्ष करते हुए ही मार्क्सवादी आलोचना का विकास करना था।"[2] शिवदानसिंह चौहान साहित्य का उद्देश्य जनता की चेतना का विकास करना मानते हैं न कि सनसनीखेज बातें फैलाना या राजनैतिक प्रचार करना। उनका मानना है कि साहित्यकार का यह कर्तव्य है कि वह साहित्य को आमजन की अभिव्यक्ति देकर उसे मानवीय धरातल से जोड़े। तभी साहित्य के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन का रास्ता साफ होगा।

शिवदानसिंह चौहान का मानना है कि आलोचक को पूर्वाग्रहों से मुक्त रहकर तटस्थ होकर निष्पक्ष रूप से कृति का मूल्यांकन करना चाहिए। संकुचित मानसिकता व खांचाबद्ध वैचारिकता से बाहर निकलकर तटस्थ होकर कृति का सही और वास्तविक मूल्यांकन संभव है। जबकि, "आलोचक अपने अनुसंधान की विशिष्ट दुनिया को ही सबसे अधिक मूल्यवान मान बैठता है और अपने क्षेत्र की स्थापनाओं की अपेक्षा में संपूर्ण जीवन की व्याख्या करने लगता है।"[3] और इसी कारण न रचना का भला हो पाता और न ही रचनाकार का, बल्कि कृति कुछ संकुचित खांचों में फंसकर पाठकों को गुमराह करने लगती है। शिवदानसिंह चौहान ने अपने आलोचना कर्म में

---

[1] शिवदानसिंह चौहान, आलोचना के मान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 121

[2] मधुरेश, मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान, आधार प्रकाशन, पंचकूला, भूमिका से

[3] शिवदानसिंह चौहान, आलोचना के मान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 24

जहाँ वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाया वहीं सौंदर्यबोध से भी अनजान नहीं रहे और इसी के आधार पर संतुलन बना पाए। शिवदानसिंह चौहान की आलोचना दृष्टि में उतरोत्तर विकास दिखाई देता है। शुरुआती समीक्षा में मार्क्सवाद से प्रभावित चौहान जी बाद में सौंदर्यबोध तथा समाजशास्त्र को भी उतना ही महत्त्व देने लगे थे जितना की मार्क्सवाद को, "शिवदानसिंह की 'आलोचना' साहित्य को समाजशास्त्र के अन्तर्गत देखे जाने की पेशकश कर रही थी।"[1]

मुक्तिबोध (1917 - 1964)

कामायनी पुनर्विचार (1961), एक साहित्यिक की डायरी (1966), नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध (1968) आदि आलोचनात्मक कृतियों के रचनाकार मुक्तिबोध प्रगतिवाद व प्रयोगवाद के सेतुकवि हैं। जहां उन्होंने प्रगतिशील कवि के रूप में प्रसिद्धि पाई वहीं प्रयोगवाद के 'तारसप्तक' में भी शामिल रहे। मुक्तिबोध की सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों तरह की आलोचना में वैचारिक सुलझाव व मौलिकता है। इसी वैचारिक धरातल पर वे जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, कुँवर नारायण, शमशेर बहादुर सिंह की खुलकर आलोचना करते हैं।

हालांकि मुक्तिबोध ने आलोचना की व्यवस्थित पुस्तकें नहीं लिखी पर उनका फुटकर आलोचनात्मक लेखन महत्त्वपूर्ण है। आलोचनात्मक जकड़न से मुक्त होकर मुक्तिबोध ने जिस तरह से 'एक साहित्यिक की डायरी' लिखी है वह एक अनुठा प्रयास है जिसे मुक्तिबोध के आलोचनात्मक प्रयोग के रूप में देखा जाना चाहिए।

मुक्तिबोध की आलोचना प्रगतिवाद व आधुनिकतावाद के संदर्भों को सुलझाती प्रतीत होती है। मुक्तिबोध एक तरफ जहाँ प्रगतिवादियों की खामियों से निराश थे वहीं दूसरी तरफ उनका आधुनिकतावादियों के साथ वैचारिक टकराव चल रहा था। मुक्तिबोध का रचनात्मक व आलोचनात्मक लेखन एक साथ चल रहा था। उनके आलोचनात्मक लेखन में मौलिकता व समृद्ध परम्परा का चिन्तन शामिल है। कामायनी का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने कहा है कि "कामायनी साहित्य के रसवादी - छायावादी पुरापंथियों के हाथ में, नवीन प्रगति शक्तियों के विरुद्ध एक शस्त्र

[1] कमलेश्वर, जो मैंने जिया, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ - 54

बन गई है।"[1] कामायनी की वर्ग - दर्शन के आधार पर मुक्तिबोध ने जो व्याख्या प्रस्तुत की है उसमें उनकी मार्क्सवादी दृष्टि झलकती है। बाद के लेखन में वे एक सचेत आलोचक की तरह अपनी ही रचना प्रक्रिया का निर्ममता से विश्लेषण करते हैं।

मार्क्सवादी आलोचक होते हुए भी मुक्तिबोध का नई कविता का मूल्यांकन अन्य मार्क्सवादी आलोचकों से भिन्न था। वे नई कविता के प्रयोगों से कुछ हद तक प्रभावित थे लेकिन उसकी व्यक्तिवादी व अंतर्मुखी धारणा से उनका संघर्ष था, उन्होंने नई कविता के जड़ व अमूर्त सौंदर्य का विरोध किया, "आधुनिक भावबोध सम्बन्धी उनकी धारणा, जन - साधारण की उपेक्षा करके लघु - मानव की उनकी कल्पना, समाज और जनता को भीड़ कहकर उसका अपमान करने की प्रवृति, पूँजीवादी समाज - रचना और साम्यवादी समाज - रचना दोनों को औद्योगिक सभ्यता कहकर उस औद्योगिक सभ्यता के अन्तर्गत व्यक्ति के व्यक्तित्व के नाश की अनिवार्यता मानना, और इस प्रकार मानव की विफलता और अगतिकता को मूलभूत और चरम मानकर अनाशा की प्रस्थापना करना ये मुझे असंगत, अनुचित और हानिप्रद मालूम होती है।"[2]

मुक्तिबोध ने कहा कि 'कला के प्रश्न जीवन के प्रश्न हैं' तथा 'साहित्य विवेक मूलतः जीवन विवेक है।' साहित्य रचना के लिए जीवन का ज्ञान, उसका अनुभव, उसका यथार्थ आवश्यक है। इन सबके बिना ना साहित्य की रचना हो सकती है और ना ही उस साहित्य की समीक्षा। मुक्तिबोध का कहना है कि "यदि साहित्य जीवन का उद्घाटन है, तो समीक्षक को यह जानना ही पड़ेगा कि उद्घाटित जीवन वास्तविक जीवन है या नहीं। असल में, कसौटी वास्तविक जीवन का संवेदनात्मक ज्ञान ही है, जो न केवल लेखक और समीक्षक में होता है, वरन पाठक में भी रहता है। वास्तविक जीवन की संवेदनात्मक समीक्षा शक्ति किसी की वपौती नहीं। इसी समीक्षा शक्ति के सहारे बड़े - बड़े व्यक्तित्वों का निर्माण होता है।"[3] मुक्तिबोध जीवन - ज्ञान से संचालित आलोचना को महत्त्व देते हैं और उसी को मर्म से भरी आलोचना मानते हैं। इसी आलोचना से साहित्य व मनुष्य का

---

[1] निर्मला जैन, हिन्दी आलोचना की बीसवीं सदी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 74 - 75

[2] वही, पृष्ठ - 77

[3] नैमिचन्द्र जैन (सम्पा.), मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड - 5, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 69

भला हो सकता है। मुक्तिबोध आलोचकों से शब्दों, शास्त्रों व जटिल उद्धरणों से बाहर निकलकर मानव जीवन से जुड़कर आलोचना करने की नसीहत देते हैं।

मुक्तिबोध आलोचक के व्यक्तित्व का सवाल उठाकर आलोचना को नई जमीन पर लाकर खड़ा कर देते हैं। उनका मानना है कि साहित्यिक रचना में लेखक पात्रों के चरित्र - चित्रण ही नहीं करता बल्कि स्वयं भी अभिव्यक्त होता है। ठीक इसी तरह से तटस्थ दिखने वाली आलोचना में भी आलोचक की विचारधारा व व्यक्तित्व समाहित होता है। रचनाकार और आलोचक को सिर्फ व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही नहीं करनी चाहिए अपितु उसके विकास पर भी ध्यान देना चाहिए। मुक्तिबोध का मत है कि वही आलोचक रचनाकार के उद्देश्य को समझ सकता है जो जीवन के सत्य से जुड़ा हुआ हो और मानवीय संवेदना से सराबोर हो। आलोचक के लिए निष्पक्ष व निरपेक्ष होना बहुत जरुरी है। निरपेक्ष रहकर यथार्थ के आधार पर ही वह रचना और रचनाकार के साथ न्याय कर सकता है। कोरे सिद्धान्तों से रचना का मर्म नहीं समझा जा सकता।

मुक्तिबोध ने अपने समकालीन रचनाकारों पर काफी लिखा और विवेक के साथ लिखा। उनके उस लेखन को आज भी नकारा नहीं जा सकता। मुक्तिबोध ने त्रिलोचन के काव्य को बेचैनी और विह्वलता का काव्य कहा है तो भारत भूषण की कविताओं को 'मामूली आदमी' की कविताएं कहा है। मुक्तिबोध जब भी किसी रचनाकार की आलोचना करते हैं तो उनका उद्देश्य उस लेखक को परास्त करना नहीं होता। वे अपनी असहमति को बहुत सहज और स्पष्ट तरीके से प्रकट करते हैं। दिनकर की 'उर्वशी' को उन्होंने शासक वर्ग की अभिव्यक्ति कहा। मुक्तिबोध साहित्य मर्मज्ञ के मन से आलोचना करने बैठते हैं, वे किसी रचनाकार को सामने न रखकर रचना को आधार बनाकर सीधी - सपाट भाषा में कृति की समीक्षा करते हैं। वे समाज के व्यापक प्रश्नों की पड़ताल कृति में करते हैं व रचनाकार के मनस्तत्वों की पहचान करते हुए समीक्षा करते हैं। मुक्तिबोध ने व्यावहारिक व सैद्धान्तिक दोनों स्तरों पर हिन्दी आलोचना को समृद्ध किया है।

नैमिचन्द्र जैन (1919....)

कवि के रूप में अज्ञेय के 'तार सप्तक' में पहचान बनाने वाले नेमिचंद्र जैन बाद में नाट्य आलोचना में प्रविष्ट हुए। 1965 में ये 'नटरंग' त्रेमासिक पत्रिका के सम्पादक रहे, तथा 1966 में 'अधूरे साक्षात्कार' पुस्तक के साथ हिन्दी आलोचना में प्रवेश किया। नैमिचन्द्र जैन ने मुक्तिबोध रचनावली का सम्पादन किया तथा 'पाया पत्र तुम्हारा' में अपने पत्रों का संकलन प्रस्तुत किया। 'बदलते परिप्रेक्ष्य' और 'जनतांत्रिक' शीर्षक निबन्ध संकलन के बाद नैमिचन्द्र ने नाट्यालोचना में ख्याति प्राप्त की। इस संदर्भ में 'भारतीय नाट्य परम्परा' उनकी चर्चित पुस्तक रही है जिसमें भारतीय रंग - परम्परा व रंगमंच सम्बन्धी व्याख्या दी गई है। नेमिचन्द्र जैन का मानना है कि शहरों में बदलती जीवन शैली व दुरुह जीवन से रंग - परम्परा का ह्रास हुआ है।

नैमिचन्द्र जैन की नाट्य सम्बन्धी तीन महत्त्वपूर्ण पुस्तकें रंग - दर्शन (1967), आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच (1979), भारतीय नाट्य परम्परा (1981) प्रकाशित हुई। इसके अलावा रंगमंच में रुचि के फलस्वरूप उन्होंने 1993 में मोहन राकेश के नाटकों का सम्पादन 'मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक' शीर्षक से किया। रंग - दर्शन नामक पुस्तक में नैमिचन्द्र ने भारतीय रंगमंच के सभी पक्षों को गहराई से समझने का प्रयास किया है। उन्होंने रंगकर्मी की दृष्टि से रंगमंच की सार्थकता खोजी, जो उनकी आलोचना की उपलब्धि कही जा सकती है। उनका मानना है कि नाटक की सफलता रंगमंच पर ही निर्भर करती है लेकिन हिन्दी नाटकों में रंगमंचीय दृष्टि का घोर अभाव है।

नाटक के अलावा नैमिचन्द्र जी ने उपन्यास की आलोचना की है। अपनी पुस्तक 'अधूरे साक्षात्कार' में उन्होंने 'उसका बचपन','नदी के द्वीप','यह पथ बन्धु था','बूंद और समुद्र','भूले बिसरे चित्र','मैला आंचल','झूठा - सच','जयवर्धन','चारुचंद्र लेख' आदि उपन्यासों की कलात्मकता का वर्णन किया है। उपन्यास के प्रति उनमें असंतोष है और उसके भविष्य के बारे में चिंता भी, "उन्हें यह भय है कि कहीं अपना पूरा स्तर प्राप्त किए बिना ही, अपनी संभावनाओं को

चरितार्थ किए बिना ही हिन्दी उपन्यास अकाल मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा?"[1] आगे के आलोचकों के लिए नैमिचन्द्र यहां सवाल छोड़ देते हैं।

रांगेय राघव (1923 - 1962)

संगम और संघर्ष (1953), महाकाव्य विवेचन (1958), काव्य, यथार्थ और प्रगति, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, गोरखनाथ और उनका युग, भारतीय पुनर्जागरण की भूमिका, 'भारतीय संत परम्परा और समाज' आदि रचनाओं से रांगेय राघव ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया।

कथाकार के रूप में ख्याति प्राप्त रांगेय राघव ने आलोचना में भी अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई। प्रमुख मार्क्सवादी आलोचकों में गिने जाने वाले रांगेय राघव की आलोचना पर विवाद भी बहुत खड़े हुए। उन्होंने अपनी आलोचना में समाजशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि के आधार पर साहित्य का संतुलित मूल्यांकन किया है। उनका मानना है कि सिर्फ आर्थिक स्थिति के आधार पर साहित्य का निर्माण सम्भव नहीं है। सामाजिक जीवन में शामिल राजनीतिक, दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि परिस्थितियां भी साहित्य को प्रभावित करती हैं। इन परिस्थितियों को समझकर सामाजिक जीवन को आत्मसात करके ही कोई साहित्यकार उपयोगी साहित्य का निर्माण कर सकता है।

'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' पुस्तक में रांगेय राघव लिखते हैं कि सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हुए रचनाकार अपने वर्ग - स्वार्थों से ऊपर उठ जाता है, और यह साहित्य प्रगति का परिचायक होता है। आदिकाल या मध्यकाल के काव्य में प्रगतिशील चेतना खोजने की बजाय रांगेय राघव आधुनिक काव्य पर अधिक बल देते हैं। इस संदर्भ में वे 'तुलसीदास के साहित्य में सामन्त विरोधी मूल्य' ढूंढने वाले रामविलास शर्मा की तीखी आलोचना करते हैं। छायावाद के चारों मुख्य कवियों में वे महादेवी वर्मा को सबसे अधिक प्रगतिशील मानते हैं, जिसका कारण महादेवी के काव्य में सामाजिक बंधनों को तोड़ने वाले स्त्री प्रेम का स्वर है।

[1] नंदकिशोर नवल, हिन्दी आलोचना का विकास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 279

रांगेय राघव ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार' में सभी वादों से ऊपर उठकर प्रेम और शृंगार का विस्तृत मूल्यांकन किया है। राग पक्ष को महत्त्व देते हुए वे इस कृति में अन्तस के भावों की व्याख्या करते हैं। 'आधुनिक हिन्दी कविता' शीर्षक पुस्तक में रांगेय राघव ने आधुनिक कविता के कथ्य और रूप का समीक्षात्मक अध्ययन किया है। उनका मानना है कि 'आज की कविता में नयापन स्वाभाविक और युगानुरूप है।' रांगेय राघव साहित्यिक मूल्यांकन में वर्ग और वाद से ऊपर उठकर रचना के रूप और वस्तु पर केन्द्रित रहे जिस कारण कहीं न कहीं सामाजिक जीवन के तत्वों को कृति में खोजने में असफल रहे। वर्ग - संघर्ष पर आधारित प्रगतिवाद की सैद्धान्तिक आलोचना से कई मुद्दों पर वे सहमत नहीं हैं, उनका कहना है कि प्रगतिशीलता को सीमित अर्थों में नहीं बांधा जा सकता। रांगेय राघव ने कुछ सीमाओं के बावजूद हिन्दी आलोचना में उल्लेखनीय योगदान दिया।

विजयदेव नारायण साही (1927 - 1982)

साही जी ने 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर बहस' करते हुए आलोचना के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा। इन्हें हिन्दी आलोचना परम्परा में नवीन शब्दावली, नए प्रत्यय, मौलिक शैली एवं आलोचना की नवीन दृष्टि के लिए जाना जाता है।

साही जी आचार्य नरेन्द्रदेव से प्रभावित होकर स्वतंत्रता आन्दोलन में शामिल हुए। काशी विद्यापीठ में अध्यापन करने के दौरान मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हुए और उसके बाद अनेक श्रमिक संगठनों में जुटकर काम किया। भदोही में कालीन बुनकरों का संगठन बनाया। डा. राममनोहर लोहिया के सम्पर्क में आकर सोशलिस्ट हुए। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में आकर मार्क्सवादी विचारधारा से मोहभंग हुआ और समाजवादी विचारधारा में विश्वास बढ़ा। प्रलेस के बरक्स 'परिमल' नामक संगठन खड़ा करने में साही जी की मुख्य भूमिका रही इन्होंने परिमल को इतना मजबूत बनाया कि जल्दी ही वह प्रलेस को टक्कर देने लगा। साही जी ने मार्क्सवादी आलोचना पर व्यंग्य किया। भक्तिकाल के प्रतिनिधि कवियों में शामिल 'जायसी' के काव्य की समीक्षा साही जी ने की।

नामवर सिंह (1927 - .....)

हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग (1952), आधुनिक साहित्य की प्रवृतियां (1954), छायावाद (1955), पृथ्वीराज रासो की भाषा (1956), इतिहास और आलोचना (1962), कहानी नई कहानी (1966), कविता के नए प्रतिमान (1968), दूसरी परम्परा की खोज (1982), वाद विवाद संवाद (1989), जमाने से दो दो हाथ (2010) आदि नामवर सिंह की महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियां हैं।

नामवर सिंह के लेखन की विशेषता यह रही है कि उन्होंने जिस भी सिद्धान्त या मान्यता को गढ़ा है वह देर - सबेर साहित्यिक जगत में स्वीकार हुई है। कालिदास, वाल्मीकि, तुलसीदास, भारतेन्दु, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द व निराला के सम्बन्ध में रामविलास शर्मा व नामवर सिंह के विचारों में काफी हद तक समानता है। नामवर सिंह के आलोचनात्मक लेखन की शुरुआत 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश के योग' के साथ 1952 में हुई, जिसे विस्तार मिला 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' में। एक आलोचक के रूप में उनकी पहचान 'छायावाद' से ही बनी।

नामवर सिंह ने 'आधुनिक साहित्य की प्रवृतियाँ' शीर्षक पुस्तक में हिन्दी साहित्य की चार प्रवृतियों रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद का उल्लेख किया है। एकांगी दृष्टिकोण के कारण कहीं कहीं वैचारिक विकृतियां होने के बावजूद हिन्दी साहित्य के विकास में इसका योगदान अपूर्व है। अपनी दृष्टि की मौलिकता, वैचारिक संघर्ष, सार्थक विवेचन व सृजनात्मक भाषा के साथ नामवर सिंह ने 'छायावाद' के माध्यम से हिन्दी आलोचना में अपनी मुकम्मल पहचान बनाई। इस पुस्तक में नामवर सिंह ने भक्तकवियों की स्वानुभूति की चर्चा छायावादी काव्य के संदर्भ में की है। द्विवेदी युग के काव्य से विकसित इस आन्दोलन ने आगे प्रगतिवाद के विकास को आधार प्रदान किया।

'इतिहास और आलोचना' पुस्तक में नामवर सिंह का वैचारिक संघर्ष है। नामवर सिंह साहित्य रचना के लिए अनुभूति को अनिवार्य मानते हैं। नामवर सिंह का कहना है कि सामाजिक यथार्थ को जानने के बाद ही हम अपने मन में प्रवेश कर सकते हैं, "जिन्होंने समाज की वर्तमान

विषमता से आंखे मूंद ली है उन्हें अपने जीवन के बारे में सोचने - विचारने से छुट्टी है और यदि वे सोचते - विचारते हैं तो केवल निजी जरुरत की बातें। उनके सोचने में गहराई नहीं होती, इसलिए उनमें मानवता नहीं होती। इस प्रकार गहराई की व्यापकता मानवता तक जाती है।"[1] इसी पुस्तक में नामवर सिंह ने साही, अज्ञेय आदि की आत्मविश्वास व विवेक के साथ आलोचना की है। मार्क्सवादी दृष्टि के साथ समस्याओं की व्याख्या व समाधान भी नामवर सिंह ने प्रस्तुत किए हैं।

मूलतः कविता की आलोचना करने वाले नामवर सिंह जब कहानी के क्षेत्र में आए तो उन पर आरोप लगे कि वे कविता के प्रतिमानों से कहानी का मूल्यांकन कर रहे हैं। उन्होंने स्वयं भी यह बात स्वीकार की। कहानी का मूल्यांकन करने के पीछे उनका उद्देश्य आलोचना पद्धतियों की खोज करना था, जिनके आधार पर साहित्य की सभी विधाओं का मूल्यांकन किया जा सके, "जीवन के जिन मूल्यों की कसौटी पर हम कविता - उपन्यास आदि साहित्य रूपों की परीक्षा करते हैं, उन्हीं पर कहानी की भी समीक्षा होनी चाहिए। इससे कहानी समीक्षा का एक ढांचा तैयार होगा ही, साथ ही साथ मानवीय मूल्यों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान भी बढ़ेगा और सम्पूर्ण साहित्य के मतों की अपर्याप्तता भी क्रमशः कम होगी।"[2] नामवर सिंह का मानना है कि कहानी की सामाजिक शक्ति अपेक्षत अधिक है और उसका पाठक वर्ग भी।

एक आलोचक के रूप में उन्होंने मार्क्सवादी आलोचना को चुना और मार्क्सवाद को ही साहित्य की व्याख्या का सही आधार माना। मार्क्सवादी आलोचना में प्रवेश के साथ ही नामवर सिंह के सामने समस्या आई साहित्य और समाज के सम्बन्धों को समझने - समझाने की। उनके समकालीन आलोचकों में पहले से ही यह बहस का मुद्दा बना हुआ था जिसमें छायावदी भावुकता, कल्पनाहीनता और प्रकृति प्रेम पर आधारित काव्य में सामाजिक सत्य की खोज का प्रयास हो रहा था। नामवर सिंह ने छायावाद के आधारस्तम्भ चारों कवियों का गहराई से अध्ययन तथा मूल्यांकन किया और छायावाद की कल्पना में सामाजिक सत्य की खोज की। छायावाद को हिन्दी साहित्य के विकास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी मानते हुए उन्होंने लिखा कि "छायावाद ही

[1] नामवर सिंह, इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 22

[2] नामवर सिंह, कहानीःनई कहानी, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 26

हिन्दी साहित्य की परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसका जन्म हमारे साहित्य की विशेष सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों में हुआ और फिर विशेष परिस्थितियां उत्पन्न हो जाने के कारण इनका पर्यवसान भी हो गया। पर अब यह हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक स्थापित तथ्य है।"[1] नामवर सिंह का मानना है कि "छायावाद हमारी विशेष सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकता से पैदा हुआ और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने ऐतिहासिक कार्य किया। समाज और साहित्य को उसने जिस तरह पुरानी रुढ़ियों से मुक्त किया, उसी तरह आधुनिक राष्ट्रीय और मानवतावादी भावनाओं की ओर भी प्रेरित किया।"[2] उन्होंने छायावादी कल्पना की गहराई में उतरकर सामाजिक सत्य को तलाशा।

नामवर सिंह एक सचेत आलोचक के रूप में अपने चिन्तन का विकास करते हैं। अपने समय का प्रभाव ग्रहण करते हुए वे अपने विचारों को पुनः संयोजित करने व जरुरत पड़ने पर बदलने की गुंजाइश भी रखते हैं। नामवर सिंह साहस और चुनौती को पसन्द करने वाले आलोचक हैं, उनमें अस्वीकार का साहस भी है और चुनौती को स्वीकार करने की हिम्मत भी। नामवर सिंह की आलोचना सैद्धान्तिक स्तर पर जितना संवाद प्रस्तुत करती है उतना ही व्यावहारिक स्तर पर भी।

शिवकुमार मिश्र (1931 - 2013)

नया हिन्दी काव्य (1962), प्रगतिवाद (1966), मार्क्सवादी साहित्य चिंतनः इतिहास तथा सिद्धांत (1973), यथार्थवाद (1975), साहित्य और सामाजिक संदर्भ (1977), प्रेमचन्द विरासत का सवाल (1981), दर्शन साहित्य और समाज (1981), भक्तिकाव्य और लोकजीवन (1983), हिन्दी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (1986), आलोचना के प्रगतिशील आयाम (1987), मार्क्सवाद देवमूर्तियां नहीं गढ़ता (2005), भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य (2010) मिश्र जी की आलोचनात्मक कृतियां हैं।

---

[1] नामवर सिंह, छायावाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 150

[2] वही, पृष्ठ - 151

शिवकुमार मिश्र का आलोचक के रूप में विकास नंददुलारे वाजपेयी के सानिध्य में हुआ और उन्हें सबसे अधिक प्रभावित किया रामविलास शर्मा ने। एक आलोचक के रूप में स्वतंत्र रास्ता चुनते हुए वे मार्क्सवादी आलोचना के साथ आगे बढ़े। वे आलोचना को एक सामाजिक कार्य के रूप में स्वीकार करते हैं और मार्क्स की सामाजिक परिवर्तन की धारणा को स्वीकारते हुए साहित्य का काम समाज की व्याख्या के साथ - साथ सामाजिक बदलाव को मानते हैं। 'वृंदावनलाल वर्माः उपन्यास और कला' नामक पुस्तक को मिश्र जी के आलोचना कर्म का प्रस्थान बिन्दु माना जा सकता है। इस पुस्तक में उन्होंने ऐतिहासिक व सामाजिक उपन्यासों के शिल्प, देशकाल, चरित्र - चित्रण, रोमांस, भाषा आदि का विश्लेषण किया है। 'कामायनी और प्रसाद की कविता गंगा' शीर्षक पुस्तक में मिश्र जी ने कामायनी में नारी और प्रेम, दार्शनिक भक्ति, काम का स्वरूप, पौराणिकता आदि का वर्णन - विश्लेषण किया है। 'नया हिन्दी काव्य' में मिश्र जी ने छायावाद, प्रगतिवाद, नई कविता आदि की समीक्षा आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक आधार पर की है।

'प्रगतिवाद' पुस्तक में मिश्र जी ने प्रगतिशील आन्दोलन तथा प्रगतिवादी साहित्य (कविता, कहानी, उपन्यास,नाटक, समीक्षा आदि) का विस्तृत मूल्यांकन किया है। 'मार्क्सवादी साहित्य चिन्तनः इतिहास तथा सिद्धांत' में मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन की भूमि, प्रमुख चिन्तक व साहित्यिक सवालों पर चर्चा की है। 'यथार्थवाद' उनकी प्रसिद्ध व चर्चित पुस्तक है जिसमें पश्चिमी साहित्य में यथार्थवाद के जन्म, यथार्थवादी कला आंदोलन, प्रकृतिवाद, भारतीय जीवन व कला और साहित्य में यथार्थवाद के प्रभाव, यथार्थवाद के चरित्र व भविष्य के बारे में विस्तृत समीक्षा की है। उनका उद्देश्य पाठकों के सामने मार्क्सवाद के इतिहास और सिद्धांत पक्ष को प्रस्तुत करना है। वे लिखते भी हैं कि "इस पुस्तक के सम्बन्ध में मेरा कोई दावा नहीं है, मैंने इतना जरुर चाहा है कि जिज्ञासु पाठक के समक्ष मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन को अपनी समग्रता में सारी आवश्यक भूमि में प्रस्तुत करुं।"[1]

[1] डा. शिवकुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिन्तनः इतिहास तथा सिद्धांत, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, पृष्ठ - 3

शिवकुमार मिश्र ने अपनी पुस्तक 'साहित्य और सामाजिक संदर्भ' में साहित्य और समाज के आपसी सम्बन्ध को व्याख्यायित किया है। 'दर्शन, साहित्य और समाज' नामक पुस्तक में मिश्र जी ने दर्शन, साहित्य, समाज, संस्कृति के आपसी रिश्तों तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। साथ ही नागार्जुन, मुक्तिबोध, मार्कण्डेय, यशपाल आदि कवियों के काव्य की व्यावहारिक समीक्षा की है। मिश्र जी ने प्रेमचन्द की रचनाओं के व्यावहारिक पक्ष को महत्त्व देते हुए उन पर लिखी पुस्तक 'प्रेमचन्द विरासत का सवाल' में प्रेमचन्द और भारतीय मुक्ति आंदोलन, साम्प्रदायिक सौहार्द का सवाल, व्यक्ति और विचार आदि शीर्षक से निबन्ध लिखे। 'भक्तिकाव्य और लोकजीवन' में शिवकुमार मिश्र ने कबीर, नानक, तुलसी, जायसी, सूरदास, गुरु गोविन्द सिंह आदि पर निबन्ध लिखे। इस सम्बन्ध में मिश्र जी ने आचार्य शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, मुक्तिबोध के विचारों को भी रेखांकित किया है।

शिवकुमार मिश्र ने सैद्धान्तिक आलोचना पर अधिक बल दिया। व्यावहारिक आलोचना में इन्होंने उदार दृष्टि अपनाई। साफ - सुथरी भाषा व स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए वे हिन्दी आलोचना में अलग स्थान रखते हैं। कहा जा सकता है कि मिश्र जी ने हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

निर्मला जैन (1932....)

निर्मला जैन ने आधुनिक हिंदी काव्य में रूप विधाएं, रस - सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, आधुनिक साहित्यः मूल्य और मूल्यांकन, हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी, आधुनिक हिंदी काव्यः रूप और संरचना, पाश्चात्य साहित्य चिंतन, कविता का प्रति संसार, कथाप्रसंग - यथाप्रसंग, काव्य चिंतन की पश्चिमी परम्परा आदि आलोचनात्मक पुस्तकों की रचना की। इनके अतिरिक्त इन्होंने बहुत सी पुस्तकों का दूसरी भाषाओं से हिंदी में अनुवाद किया है।

निर्मला जैन पाश्चात्य साहित्य चिंतन को इतनी गहरी समझ के साथ प्रस्तुत करने वाली पहली महिला आलोचक हैं। हिंदी आलोचना के द्वंद्व में संस्कृत तथा पाश्चात्य चिंतन के बीच चल

रही बहस के दौरान इन्होंने पाश्चात्य चिंतन को ग्रहण करते हुए इसकी व्याख्या की। इन्होंने हिंदी की सैद्धांतिक आलोचना पर काम किया तथा पाश्चात्य सिद्धांतों का परिचय करवाया। पाश्चात्य चिंतन को हिंदी में स्थापित करने में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

वैचारिक लेखन में महिलाओं की अनुपस्थिति संबंधी इस मान्यता कि महिलाएं बुद्धि या विचार का काम नहीं कर सकती को निर्मला जी ने तोड़ा तथा हिंदी आलोचना को स्थापित करने में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। निर्मला जी ने साहित्य के रसास्वादन तथा संस्कृति के सवाल पर अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई। तथा एक आलोचक के तौर पर स्थापित हुई। हिंदी आलोचना में उनके योगदान को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इन्होंने केवल वैचारिक लेखन ही नहीं किया बल्कि वैचारिक बहस के लिए लगातार छोटे - छोटे कस्बों में जाकर गोष्ठियां करती रहीं।

विश्वनाथ त्रिपाठी (1933...)

देश के इस दौर में (2000), पेड़ का हाथ (2000), लोकवादी तुलसीदास (2007), मीरा का काव्य (2010), हिन्दी आलोचना (2013), कुछ कहानियाः एक विचार आदि विश्वनाथ त्रिपाठी की प्रमुख कृतियां हैं।

विश्वनाथ त्रिपाठी जी हिन्दी आलोचना के सशक्त हस्ताक्षर हैं। इन्होंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ 'संदेश रासक' का सम्पादन करके व 'लोकवादी तुलसीदास' तथा 'मीरा का काव्य' शीर्षक पुस्तकों में भक्तिकाव्य के जनवादी मूल्यों को उद्घाटित किया है। तुलसी काव्य सम्बन्धी मूल्यांकन को समझने के लिए उसकी भूमि में पाण्डेय जी ने तुलसी की लोकदृष्टि का विस्तृत वर्णन किया है। त्रिपाठी जी ने मीरा को तत्कालीन सामन्ती समाज की पीड़ित नारी के रूप में चित्रित किया है।

त्रिपाठी जी मुक्तिबोध तथा हरिशंकर परसाई के लेखन में गहरी समानता देखते हैं व इसे स्वतंत्र भारत में उत्पन्न सहयोगी संवेदना मानते हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी रामविलास शर्मा से कितने प्रभावित हैं इसका पता इसी बात से चलता है कि 'वसुधा' के रामविलास शर्मा केन्द्रित अंक का उन्होंने सम्पादन ही नहीं किया बल्कि अलग - अलग समय पर नामवर सिंह द्वारा शर्मा जी पर

लिखे लेखों को एक ही स्थान पर छापकर नामवर सिंह के अंतर्विरोधों पर टिप्पणी की तथा शर्मा जी को विवादों से निकाल लाए।

ओमप्रकाश ग्रेवाल (1937 - 2006)

ओमप्रकाश ग्रेवाल ने हिंदी तथा अंग्रेजी की साहित्यिक कृतियों पर आलोचनात्मक लेख लिखे। कविता की आलोचना तथा विचारधारात्मक लेख उनकी पुस्तक 'साहित्य और विचारधारा (1994)' में संकलित हैं। जिसमें उन्होंने साहित्य और विचारधारा के संबंधों, साहित्य और राजनीति के अंतः संबंध, लुकाच के वास्तविकतावाद, मुक्तिबोध के मानवतावाद, उत्तर - आधुनिकतावाद, नई आलोचना, जनभाषा, कविता में मध्यवर्गीय आक्रोश तथा राजेश जोशी व उदय प्रकाश पर जिस समझ के साथ स्पष्टता से लिखा है, वह सिर्फ आलोचनात्मक पुस्तकों की संख्या में वृद्धि नहीं करता बल्कि आगे के आलोचकों को साहित्य अध्ययन की दिशा भी प्रदान करता है।

हिंदी के अलावा उन्होंने अंग्रेजी के विद्वान जेम्स हेनरी की सांस्कृतिक विचारधारा पर 'हेनरी जेम्सः दि आइडियोलॉजी आफ कल्चर' नामक पुस्तक लिखी। संस्कृति के अध्ययन से शुरुआत करते हुए डा. ग्रेवाल ने आलोचना, विचारधारा तथा राजनीति पर अपनी स्पष्ट राय कायम की। लेखन में उनकी रुचि सौंदर्य, प्रेम या प्रकृति की बजाय वैचारिक साहित्य में अधिक रही। शेक्सपीयर, चार्ल्स डिकन्स, लेव टॉलस्टाय, दोस्तोयवस्की, लुकाच, ग्राम्शी, मार्क्स, प्रेमचंद, मुक्तिबोध आदि के विचारों का प्रभाव उनके लेखन पर रहा। डा. ग्रेवाल उस छदम बौद्धिकता को खोखली मानते हैं जिसमें सामाजिक सरोकार तथा इंसानी संवेदना का सार न हो। वे विचारधारा को काल्पनिकता से उपर उठकर वास्तविक जीवन से जोड़ते हैं, और विचारधारा का अनिवार्य तत्व मानते हैं शोषितों के हितों का समावेश। वे मनुष्य की गरिमा तथा स्वतंत्रता के पक्षधर हैं।

डा. ग्रेवाल लम्बे समय तक जनवादी लेखक संघ से जुड़े रहे, तथा राष्ट्रीय स्तर के पदों पर कार्य किया, "राष्ट्रीय स्तर पर हिंदी - उर्दू के लेखकों को संगठित करने में उनकी बड़ी भूमिका थी। साहित्य समीक्षक के रूप में देश की अनेक पत्रिकाओं में उनके साहित्य - संस्कृति, समकालीन

आलोचना, कहानी पर गम्भीर शोधपरक आलेख छपे व चर्चित हुए।"[1] डा. ग्रेवाल ने 'जतन' तथा 'नया पथ' पत्रिकाओं का सम्पादन किया।

मैनेजर पाण्डेय (1941....)

शब्द और कर्म (1981), साहित्य और इतिहास दृष्टि (1981), भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, मेरे साक्षात्कार (1988), साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका (1989), संकट के बावजूद (1998), अनभै सांचा (2002), भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा (2013), आलोचना में सहमति असहमति (2013) मैनेजर पाण्डेय की आलोचनात्मक कृतियां हैं।

मैनेजर पाण्डेय के आलोचना कर्म की शुरुआत आठवें दशक में हुई। राजनैतिक, सामाजिक और साहित्यक बदलाव के इस युग में आलोचक मैनेजर पाण्डेय का आविर्भाव हुआ। भक्तिकालीन धारणाओं से हटकर सूर साहित्य की व्याख्या करते हुए 'सूरदास परंपरा और प्रतिभा' विषय पर अपना शोधकार्य करने के बाद मैनेजर पाण्डेय ने विस्तृत अध्ययन और गंभीर तैयारी के साथ आलोचना में प्रवेश किया, "उनकी आलोचाना मे सतही यथार्थ के बजाय विभिन्न प्रातिनिदिक कलाकृतियों में अंतर्निहित यथार्थ की द्वंद्वात्मकता को चीन्हने की चाह है। सच तो यह है कि उनका आलोचना साहित्य हमारे समय - समाज की विसंगति और विडंबना को उजागर करने के साथ ही इनसे मुक्ति का मार्ग बतलाने में भी सक्षम है।"[2] मैनेजर पाण्डेय मार्क्सवादी जीवन दर्शन से प्रभावित रहे। सामाजिक परिवर्तन के लिए पाण्डेय जी साहित्य को एक मुख्य कड़ी के रूप में देखते हैं। लेकिन साथ ही यह भी मानते हैं कि मार्क्सवादी दृष्टि के आधार पर रचा गया साहित्य ही परिवर्तन की भूमिका निभा सकता है। क्योंकि, "मार्क्सवाद समाज और मानव व्यवहार को केवल समझने और व्याख्या करने का ही दर्शन नहीं है उसका प्रयोजन समाज और मनुष्य को बदलना भी है।"[3] मैनेजर पाण्डेय इस सामाजिक बदलाव के लिए मनुष्य में विरोध की प्रवृत्ति का होना लाजिमी मानते हैं, "भूमण्डलीकरण के चलते वैश्विक जगत के साथ - साथ भारतीय समाज

[1] डा. शिवकुमार मिश्र, डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल स्मृति व्याख्यान, जून - 2006

[2] रवि रंजन, आलोचना का आत्मसंघर्ष, गद्यकोश, 11.5.2016

[3] मैनेजर पाण्डेय, शब्द और कर्म, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 62

पर आए 'संकट के बावजूद' मैनेजर पाण्डेय की आलोचना, पाठक को समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग के प्रपंच और क्रूर आतंक के सामने पलायन की जगह, विपरीत स्थितियों से जमकर लोहा लेने के लिए प्रेरित करती है। देश और समाज की राजनीति और संस्कृति को आकार देने में कलम की शक्ति के प्रति उनकी आस्था दृढ़ है और यह आस्था ही उनके 'शब्द और कर्म' की मूल अंतर्धारा है।"[1] मैनेजर पाण्डेय ने 'मुक्तिबोध का आलोचनात्मक संघर्ष' में मुक्तिबोध के संदर्भ में अतिरंजना से बचकर आलोचना में विचारधारा के संघर्ष पर बल दिया है। 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' में पाण्डेय जी की साहित्य की समाजशास्त्रीय दृष्टि उजागर होती है।

वीरभारत तलवार (1947....)

वीरभारत तलवार की आलोचनात्मक कृतियों में किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचन्दः1918 - 1922 (1990), राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्यः कुछ प्रसंग, कुछ प्रवृतियां (1993), रस्साकशी (2002) आदि हैं।

वीरभारत तलवार ने तीन पत्रिकाओं फिलहाल (1972 - 74), शालपत्र (1977 - 78), झारखण्ड वार्ता (1977 - 78) का सम्पादन किया तथा राजनैतिक कार्यकर्ता रहते हुए महत्त्वपूर्ण राजनैतिक पर्चे लिखे। इन्होंने आदिवासी क्षेत्र में बांधों की सम्भावना पर अध्ययन किया तथा राँची विश्वविद्यालय में आदिवासी भाषाओं के प्रसार के लिए आन्दोलन किया। इन्होंने साहित्य के जीवन में प्रवेश अपने शोधकार्य से किया। आलोचक के रूप में तलवार जी की नवजागरण में विशेष रुचि रही है।

साहित्य तथा आलोचना के बदलते प्रतिमानों को ग्रहण करते हुए वीरभारत तलवार ने नए तथा पुराने का साम्य करते हुए अपनी आलोचना की शुरुआत की है। 'किसान राष्ट्रीय आंदोलन और प्रेमचन्द (1918 - 1922)' विषय पर अपना शोधकार्य करते हुए इन्होंने प्रेमाश्रम को केन्द्र में रखा। अपने शोधकार्य में वीरभारत तलवार ने मूल स्रोतों की गहराई में जाकर समाज की सही व्याख्या करने का प्रयास किया है। प्रेमाश्रम पर चल रहे विवादों को सुलझाते हुए उसके राजनैतिक

[1] रवि रंजन, आलोचना का आत्मसंघर्ष, गद्यकोश, 11.5.2016

व सामाजिक महत्त्व पर इन्होंने विचार किया है। दासयुग, सामन्ती युग तथा पूंजीवादी युग में शुरु से ही चले आ रहे धार्मिक तथा बौद्धिक शोषण का उल्लेख तलवार जी ने किया है। उत्पीड़ित वर्गों के प्रति सहानुभूति के कारण ही वे कहते हैं कि "उत्पीड़ित वर्णों के संघर्ष और उनकी भूमिका को सामने लाना और उसका महत्त्व दिखाना एक बात है लेकिन उसकी स्वायत्तता दूसरी बात।"[1]

'राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य' शीर्षक पुस्तक में तलवार जी ने नवजागरण पर विस्तृत अध्ययन किया है। नवजागरण सम्बन्धी रचनाओं एवं रचनाकारों के माध्यम से इन्होंने नवजागरण की प्रकृति को समझने की कोशिश की है जिसमें कहीं - कहीं पुराने आलोचकों की मदद भी ली गई है। वे राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द तथा रामविलास शर्मा को सामंतवाद व साम्राज्यवाद से सीधे टकराने वाले साहित्यकारों के रूप में देखते हैं। समकालीन आलोचकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले तलवार जी हिंदी आलोचना में श्रीवृद्धि कर रहे हैं।

कर्णसिंह चौहान (1948....)

आलोचना के नये मान (1978), साहित्य के बुनियादी सरोकार (1982), प्रगतिवादी आलोचना का इतिहास आदि कर्णसिंह चौहान की महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियां हैं।

कर्णसिंह चौहान प्राचीन सिद्धांतों में नई सम्भावनाएं तलाश करते हुए नए परिदृश्य में हिन्दी आलोचना की नब्ज टटोल रहे थे। नामवर सिंह और अशोक वाजपेयी का संयुक्त रूप से अध्ययन वे यथार्थवाद को आधुनिकता में मिलाने वाले आलोचकों के रूप में करते हैं। 'साहित्य के बुनियादी सरोकार' पुस्तक में कर्णसिंह चौहान प्रगतिशील आलोचना में आए उतार - चढ़ावों तथा प्रगतिशील आंदोलन में चल रही समस्याओं को उजागर करते हैं। इस पुस्तक के लेखों 'प्रगतिशील लेखक संगठन के आधार', 'जनवादी समीक्षा का एक दशक', 'जनवादी साहित्य की समस्याएं' में जनवादी साहित्य व आलोचना में चल रही उथल - पुथल के प्रति उन्होंने खासी चिन्ता व्यक्त की है। प्रगतिवादी साहित्यिक आंदोलन की समस्याओं से जूझते हुए कर्णसिंह जनवादी साहित्य की रचना में संलग्न रहे।

---

[1] वीरभारत तलवार, किसान राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्दः 1918 -1922, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 167

कर्णसिंह चौहान प्रगतिशील साहित्य की पृष्ठभूमि में 1947 के विद्रोह तथा 1917 की रुसी क्रांति को देखते हैं। स्वतंत्रता आंदोलन ने जहां हिन्दी साहित्य को प्रेरित प्रभावित किया वहीं रुसी क्रांति ने विश्वस्तर पर साहित्य को प्रगतिशील स्वरूप दिया। उन्होंने लिखा है कि "1967 - 1977 के बीच आलोचना के जनवादी उभार पर बात करते हुए हम भले ही भारतेन्दु से शुरु होने वाली आलोचना के विकास की चर्चा न भी करें, लेकिन 1947 - 1967 के बीच हुई आलोचना की दुर्गति को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। आज के आलोचकों के लिए वह एक सबक ही नहीं है, बल्कि जनवादी आलोचना के संघर्ष और महत्त्व को समझने की एक जरुरी शर्त भी है।"[1]

शंभुनाथ (1948....)

साहित्य और जनसंघर्ष (1980), मिथक और आधुनिक कविता (1985), प्रेमचन्द का पुनर्मूल्यांकन (1988), दूसरे नवजागरण की ओर (1995), दुस्समय में साहित्य (2002), हिन्दी नवजागरण और संस्कृति (2004) आदि उनकी मुख्य आलोच्य कृतियां हैं।

डा. शम्भुनाथ ने 'मिथक और आधुनिक कविता' पुस्तक में शंभुनाथ ने मिथक और आधुनिकता के संदर्भ में विस्तृत चर्चा की है। प्रिय प्रवास, साकेत, कामायनी, राम की शक्तिपूजा, कुकुरमुत्ता, रश्मिरथी, अंधायुग, कितनी नावों में कितनी बार, संसद से सड़क आदि रचनाओं में मिथक, आधुनिकता, मानवतावाद, फंतासी को खोजकर अपनी गहरी आलोचना दृष्टि का परिचय दिया है। परंपरा और आधुनिकता के संदर्भ में शंभुनाथ ने मिथक का विस्तृत अध्ययन किया है। उनका मानना है कि "मिथकों में हमारी परंपरा के अनेक अर्थ और संभावनाएं सुरक्षित हैं जो हमारे जीवन के ही अर्थ और संभावनाएं हैं।"[2]

डा. शंभुनाथ ने रामविलास शर्मा पर ऐतिहासिक आलोचनात्मक विवेक से टिप्पणी की है और शर्मा जी की आलोचना को नए संदर्भ में विवेचित किया है। उन्होंने शर्मा जी को ऐसा मार्क्सवादी आलोचक माना है जिन्होंने परंपरा, संस्कृति, नवजागरण एवं समकालीन साहित्यिक

[1] कर्णसिंह चौहान, साहित्य के बुनियादी सरोकार, मेकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 45

[2] डा. शंभुनाथ, मिथक और आधुनिक कविता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ - 11

परिस्थितियों की विस्तृत आलोचना की। शंभुनाथ की चिंता यह है कि मार्क्सवादी आलोचकों ने मार्क्स को भारतीय समाज के अनुसार बदला नहीं बल्कि ज्यों का त्यों मार्क्सवादी सिद्धांतों को अपने ऊपर आरोपित कर लिया जिसे शंभुनाथ बौद्धिक उपनिवेशवाद को वैचारिक परजीविता के रूप में देखते हैं।

शंभुनाथ ने प्रेमचन्द के साहित्य को जीवन का सच्चा रूप प्रस्तुत करने वाला साहित्य कहा है तथा उसमें व्याप्त त्याग एवं बलिदान के गुणों को महत्त्वपूर्ण बताया है। प्रेमचन्द को केन्द्र बनाकर वे भारत के समाज और संस्कृति को समझने का प्रयास करते हैं। शंभुनाथ ने मार्क्सवाद के सिद्धांतों को आत्मसात करने के साथ भारतीय समाज को भी समझा है और तटस्थ होकर परंपरा और आधुनिकता का मूल्यांकन किया है। उनमें स्वीकार का विवेक भी है और नकार का साहस भी।

पुरुषोत्तम अग्रवाल (1955....)

संस्कृतिः वर्चस्व और प्रतिरोध, तीसरा रूख, विचार का अनंत (2007), शिवदान सिंह चौहान, कबीरः साखी और सबद (2007), अकथ कहानी प्रेम कीः कबीर की कविता और उनका युग (2012) आदि कृतियों के रचनाकार पुरुषोत्तम अग्रवाल हिन्दी आलोचना को समृद्ध कर रहे हैं।

'कबीर की भक्ति का सामाजिक अर्थ' विषय पर अपना शोधकार्य करने के बाद इन्होंने कबीर पर लगातार दो किताबों 'कबीरः साखी और सबद' तथा 'अकथ कहानी प्रेम कीः कबीर की कविता और उनका युग' की रचना की। कबीर के बारे में चल रहे विमर्शों से अलग पुरुषोत्तम अग्रवाल ने उत्तर आधुनिक संदर्भ में कबीर का मूल्यांकन किया है, "कबीर से प्रेरणा लेने की बात यही है कि मनुष्य - मनुष्य के बीच उठा दी गयी विभिन्न दीवारों को गिराने का जतन किया जाए। विभिन्न पहचानों को जड़ीभूत करने की बजाय मनुष्य की मनुष्यता को पहचाना जाए सामाजिक - राजनैतिक प्रक्रियाओं का आधार जन्मजात सांस्कृतिक अस्मिताओं में नहीं, साझी नागरिकता की

कल्पना में खोजा जाए।"[1] इस पुस्तक में पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कबीर को जिज्ञासु, प्रखर, संवेदनशील और विचारवान लेखक माना है।

पुरुषोत्तम अग्रवाल ने आधुनिक युग से पहले धर्म की खुलकर आलोचना करने वाला एकमात्र व्यक्ति कबीर को माना है। कबीर एक धर्म विशेष की आलोचना ना करके सभी धर्मों के मूल तत्वों की समीक्षा कर रहे थे, वो भी नए धर्म की स्थापना के लिए नहीं। पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कबीर की धर्मसम्बन्धी धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "कबीर की कविता इस तथ्य का रोमांचक प्रमाण देती है कि वे अपने वक्त से ही नहीं, धर्मसत्ता की वास्तविकता को समझने के प्रसंग में हमारे भी वक्त से आगे थे।"[2]

पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कबीर के काव्य के बारे में नई स्थापनाएं करते हुए इसे प्रेम का काव्य कहा है, "कबीर की कविता आधुनिक चित्त के निकट लगती है क्योंकि वह लगातार जिरह करती है। पारंपरिक मान्यताओं से, सामाजिक व्यवस्थाओं से। इस जिरह का आधार है - प्रेम।"[3]

'अकथ कहानी प्रेम कीः कबीर की कविता और उनका युग' पुस्तक पुरुषोत्तम अग्रवाल की प्रसिद्धि का आधार रही है। हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'कबीर' के बाद इस पुस्तक में कबीर को नए संदर्भ में समझने की कोशिश की गई है। प्रत्येक रचनाकार अपने समय, समाज और परम्परा से किसी हद तक प्रभावित होता है। कबीर और द्विवेदी पर भी यह प्रभाव देखा जा सकता है, और पुरुषोत्तम अग्रवाल ने इस प्रभाव को समझने तथा उद्घाटित करने का पूरा प्रयास किया है। डा. दयाशंकर के अनुसार, "पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपनी आलोचना की बहुत सी ताकत कबीर की हिन्दी आलोचना परम्परा पर औपनिवेशिक ज्ञानकांड के प्रभाव को पढ़ने, सामान्य बोध - आधारित घोषणाओं से लड़ने में झोंक दी है।"[4] पुरुषोत्तम अग्रवाल साहित्य की व्याख्या नए संद्रभों में करने वाले आलोचक हैं।

---

[1] पुरुषोत्तम अग्रवाल, कबीरः साखी और शब्द, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, भूमिका से

[2] वही, भूमिका से

[3] वही, भूमिका से

[4] आलोचना, नामवर सिंह (सम्पादक), अंक - 46, जुलाई - सितम्बर, 2012, पृष्ठ - 146

रोहिणी अग्रवाल (1959....)

'साहित्य की जमीन और स्त्री मन के उच्छवास (2014)', 'हिंदी कहानीः वक्त की शिनाख्त और सृजन का राग', 'इतिवृत की संरचना और संरूप (पंद्रह वर्ष के प्रतिमानक उपन्यास)' आदि रोहिणी अग्रवाल की महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं।

'साहित्य की जमीन और स्त्री मन के उच्छवास (2014)' पुस्तक के विमोचन के अवसर पर इन्होंने अपने लेखन के बारे में बताया कि 'मैं कहानीकार और आलोचक के रूप में जब भी कागज लेकर लिखने बैठती हूँ तो कलम मेरे पंख बन जाते हैं। मैंने जब बतौर आलोचक इस पुस्तक को लिखा तो मुझे स्त्री मन के उच्छवासों को उसके पूरे वितर्कों के साथ संपूर्ण परिप्रेक्ष्य को इसमें उतारना पड़ा।'

कहानी पर लिखी आलोचनात्मक पुस्तक 'हिंदी कहानीः वक्त की शिनाख्त और सृजन का राग' में रोहिणी अग्रवाल ने निर्मल वर्मा, मुक्तिबोध, संजीव, ज्ञानरंजन, आदि की कहानियों पर चर्चा की है। रोहिणी अग्रवाल ने किसी एक युग, रचनाकार, कृति की व्याख्या न करके सभी युगों के नए पुराने साहित्य को मिलाकर उसकी जांच - पड़ताल करती है। वे सिर्फ स्थापित साहित्यकारों को नहीं उठाती बल्कि नए साहित्यकारों की खबर भी लगातार रखती हैं और इस दौरान वह नए साहित्यकारों को जगह देते हुए साहित्य सृजन की प्रेरणा भी प्रदान करती हैं।

रोहिणी अग्रवाल की स्त्री स्वतंत्रता के प्रति प्रतिबद्धता उनके लेखन में साफ तौर पर झलकती है। वे अस्मिता विमर्श की आलोचक हैं जिन्होंने अपने लेखन में अस्मिताओं को उभारा है। रोहिणी अग्रवाल ने स्त्री विमर्श एवं आदिवासी विमर्श पर लेखन किया, तथा इनके जीवन संघर्ष के मूल्यों को पहचान कर अपनी आलोचना में उतारा है। साहित्य में उभरे पारिस्थितिक संकट विषयक विमर्श को भी इन्होंने रेखांकित किया है।

रोहिणी अग्रवाल मौलिकता के साथ लेखन करती हैं। उनकी आलोचना शैली की विशेषता यह है कि जैसे - जैसे वे किसी कृति का उद्घाटन करती हैं उसी में मूल्यांकन समाहित होता चला जाता है। उनकी सरलता सहजता में ही ज्ञान की पोटली खुलती है। रोहिणी अग्रवाल के

लेखन की शैली परम्परागत नहीं है। उन्होंने हिंदी आलोचना की शैली में एक अलग प्रतिमान की स्थापना की है। कहा जा सकता है कि रोहिणी अग्रवाल के पास सजग दृष्टि है, विश्लेषण की समझ है, मूल्यांकन का पैमाना है। जिनके दम पर वे पाठकों को बांधे रखती हैं तथा रचनाकारों को दिशा देती हैं।

आलोचना परम्परा को विकसित करने में अनेक आलोचकों ने अपना योगदान दिया है। इन आलोचकों ने आलोचना की अनेक पद्धतियों के माद्यम से कृति की विभिन्न रूपों में व्याख्या की है। आज के आलोचकों को सुलझी हुई तथा समृद्ध परम्परा विरासत में मिली है जिसे आगे बढ़ाने का काम प्रदीप सक्सेना, अजय तिवारी, विजय कुमार, वैभव सिंह, पल्लव, अनिल त्रिपाठी, रामाज्ञा शशिधर, राकेश बिहारी, अशोक कुमार पाण्डेय आदि कर रहे हैं।

तीसरा अध्याय

आपातकालोत्तर आलोचना: स्त्री, दलित एवं आदिवासी विमर्श

वर्ण व्यवस्था और पितृसत्ता ने स्त्री तथा दलित को हमेशा से उनके अधिकारों से वंचित रखकर हाशिए पर धकेला। स्त्री को 'अन्य' तथा दलित को 'शुद्र' कहकर मुख्यधारा से बाहर रखा गया। शोषण की व्यवस्था पितृसत्ता एवं ब्राह्मणवाद को धार्मिक ग्रंथों ने पोषित किया, जिससे यह शोषण ओर गहरा हुआ। पिछले कुछ सालों में हाशिए के समाज में शामिल आदिवासियों पर प्रहार बढ़े, जो स्त्री, दलित से भिन्न होकर भी अधिक खतरनाक साबित हुए। स्त्री एवं दलित की अस्मिता के सवाल तथा आदिवासी के जीवन - संघर्ष को हिंदी साहित्य तथा आलोचना ने समझा - जाना और व्यक्त किया। स्त्री, दलित एवं आदिवासियों से जुड़े मुद्दों की आलोचना ने गहराई से पड़ताल की।

3.1. स्त्री विमर्श

पितृसत्तात्मक समाज में राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक अधिकारों से वंचित स्त्रियां शारीरिक व बौद्धिक स्तर पर हीन समझी गयी। पुरूषों द्वारा रचित धर्मशास्त्र व कानून ने स्त्रियों को पराधीनता की व्यवस्था दे रखी थी। अनेक वर्जनाओं को सहती हुई विकास से वंचित स्त्री लगातार पिछड़ती गई। हर तरह से वंचित व पीड़ित स्त्रियों को धीरे - धीरे जब अपनी गुलामी का अहसास हुआ तो उन्होंने आवाज उठानी शुरू की जिसने आगे चलकर आन्दोलन का रूप लिया। स्त्री आंदोलन ने विमर्श का रूप धारण किया जिसने पितृसत्तात्मक अवधारणाओं तथा मूल्यों को चुनौती दी।

3.1.1 अर्थ एवं परिभाषा

स्त्री विमर्श की पृष्ठभूमि, स्त्री चिंतक, स्त्री आंदोलन के विकास आदि को समझने से पहले स्त्री विमर्श के अर्थ एवं परिभाषा को समझ लेना आवश्यक है।

विनय कुमार पाठक के अनुसार, "लिंग के आधार पर अनुभूति को अलगाने वाला विवेचन ही स्त्री - विमर्श है।"[1] स्त्री विमर्श के तहत स्त्री की सामाजिक स्थिति, दृष्टि तथा भूमिका के प्रश्न उभरकर सामने आए, "स्त्री विमर्श में उठने वाले सवाल मात्र स्त्रियों से जुड़े हुए ही नहीं, अपितु उनसे हमें पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे मापदण्डों, पैतृक मूल्यों, लिंग भेद की राजनीति और स्त्री उत्पीड़न के अन्तर्निहित कारणों को समझने की भी गहरी दृष्टि प्राप्त होती है।"[2]

स्त्री विमर्श पुरुषों के खिलाफ नहीं पुरुषों से बराबरी का विमर्श है। स्त्री विमर्श पितृसत्तात्मक व्यवस्था में हो रहे स्त्री के शोषण तथा गुलामी को समझते हुए इस व्यवस्था पर सजगता के साथ विचार कर रहा है। पारिवारिक तथा सामाजिक मूल्यों के निर्वहन का वास्ता लेकर स्त्रियों की रचनात्मक, बौद्धिक शक्ति को नष्ट करने वाली सामाजिक व्यवस्था पर यह विमर्श सवाल खड़े करता है।

3.1.2 स्त्री आंदोलनः सामान्य परिचय

स्त्रियों के लिए समान अधिकारों की मांग 1792 में फ्रांसीसी क्रांति (1789 - 1799) के दौरान उठ चुकी थी, जिसमें बिना किसी लिंग - भेद के आजादी, समानता तथा भ्रातृत्व की मांग की गई। लेकिन यह आंदोलन ज्यादा सफल नहीं हो पाया।

लुक्रेसिया कफिन मोर, एलिजाबेथ कैंडी स्टैण्डन आदि ने न्यूयार्क में महिला सम्मेलन करके स्त्री स्वतन्त्रता पर घोषणापत्र जारी किया, जिसमें पूर्ण शैक्षिक व व्यावसायिक अवसर, कानूनी समानता, समान मजदूरी तथा वोट के अधिकार की मांग की गई। बाद में यह आन्दोलन पूरे यूरोप में फैल गया। 20वीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में सफरेज आन्दोलन में महिलाओं के लिए वोट का अधिकार मांगते हुए उनके लिए पूर्ण नागरिकता की बात की गई। 1946 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने एक आयोग गठित किया जिसमें महिलाओं के लिए समान राजनैतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक अधिकारों की वकालत की। 1960 के बाद स्त्री आन्दोलन में नया मोड़ आया। 1966 में

[1] डा. विनय कुमार पाठक, हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 137

[2] राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 19

'राष्ट्रीय महिला संगठन' का गठन हुआ। बेद्दी फ्राइडेन, ग्लोरिया स्टेनियम, शर्ली किसोम, आदि के दबाव में 1972 में सरकार ने 'समान अधिकार संशोधन विधेयक' पारित किया।

फ्रांस में सिमोन के 'द सैकेंड सैक्स' ने नारीवादी आन्दोलन की चेतना में विकास किया, स्त्री संघर्ष तेज हुआ। केट मिलेट की पुस्तक 'सेक्सुअल पालिटिक्स' तथा जर्मन ग्रीयर की पुस्तक 'द फिमेल यूनॉक' के जैसा अतिवाद सीमोन में नहीं था, बल्कि सीमोन स्त्री की सामाजिक तथा जैविक (प्राकृतिक) स्थिति, उसके विकास के चरणों आदि का वर्णन बहुत धैर्य और समझ के साथ किया है। अमेरिका का नारीवादी आन्दोलन स्त्री - पुरुष समलैंगिकता, मुक्त यौनाचार आदि विषयों तक सीमित रहा। और इन्हीं कारणों से 1970 के आसपास इस आंदोलन में भटकाव शुरु हो गया था।

भारत में 19वीं शताब्दी में सावित्री बाई फुले, जोतिबा फुले, ताराबाई शिन्दे, रमाबाई, राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर आदि ने स्त्री शिक्षा व स्वावलम्बन के लिए काम किया। पंडिता रमाबाई ने स्वाधीन जीवन जीते हुए हिंदु धर्म की रुढ़ियों के खिलाफ तथा स्त्री अधिकारों के लिए संघर्ष किया। रमाबाई ने, "1882 में 'स्त्री धर्म नीति' किताब लिखी जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया कि भारतीय नारी अतीत के गौरव की गाथा में संतुष्ट नहीं हो सकती।"[1] रमाबाई ने हिंदु स्त्री के जीवन के यथार्थ पर 1888 में 'द हाई कास्ट हिंदु' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें पितृसत्ता की आलोचना की। सावित्री बाई फुले ने अनेक सामाजिक बाधाओं को सहते हुए भारत की पहली शिक्षक के रूप में काम किया। सावित्री बाई फुले ने विधवा महिलाओं के बच्चों के संरक्षण के लिए 'बालहत्या प्रतिबंधक ग्रह' खोला। ताराबाई शिन्दे ने विधवाओं के पुनर्विवाह का पक्ष लेते हुए कहा, "पत्नी के मरते ही दूसरा विवाह करने की आजादी यदि पुरुषों को है तो कौन सी ताकत है जो विधवाओं को पुनर्विवाह करने से रोकती है।"[2] ताराबाई शिन्दे ने धार्मिक कट्टरताओं तथा अनाचारों का खुलकर विरोध किया।

---

[1] डा. के. एम. मालती, स्त्री विमर्शः भारतीय परिप्रेक्ष्य,वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 36

[2] वही, पृष्ठ - 58

20वीं शताब्दी में गांधी जी ने बाल - विवाह, विधवाओं के बंधनों को गलत ठहराते हुए कहा कि स्मृति में लिखी हुई सभी चीजों को सही नहीं माना जा सकता, और ना ही उनका समर्थन किया जा सकता। 1910 - 20 में महिलाओं के स्थानीय संगठन बनने लगे थे - बंगाल में 'बंग महिला समाज' एवं 'अघोरी सेवा समिति', बनारस में 'भारत महिला परिषद', बेंगलोर में 'महिला सेवा समाज', महाराष्ट्र में 'सतारा अमलोन्नति सभा', इलाहाबाद में 'प्रयाग महिला समिति' आदि का गठन हो चुका था। 1926 में 'अखिल भारतीय महिला परिषद' बनी। 1930 के दशक में मार्क्सवादी चिंतकों का जुड़ाव स्त्री आंदोलन से हुआ और 1954 में 'भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी' ने कलकत्ता में अपनी 'भारतीय महिला फेडरेशन' की स्थापना की। 1970 के दशक में गोरा देवी के नेतृत्व में 'चिपको आन्दोलन' (1973) और 'शराबबंदी' के लिए स्त्रियों ने उग्र आन्दोलन किया। 1982 में महिलाओं ने शराबबंदी के लिए आंदोलन किया। 1992 में 'राष्ट्रीय महिला आयोग' की स्थापना हुई।

इन सब आन्दोलनों व संघर्षों ने महिलाओं को कुछ कानूनी अधिकार जरूर दिलाएं हैं। लेकिन महिलाओं को पूर्ण स्वतंत्रता नहीं मिली, उनका बड़ा हिस्सा आज भी शोषण व गुलामी की चारदीवारी में कैद है। पितृसत्ता परिवारों में कायम है और महिलाओं को आज भी बच्चा पैदा करने की मशीन से ज्यादा कुछ नहीं समझा जाता। कामकाजी महिलाएं भी घरेलू जिम्मेदारियों से मुक्त नहीं हैं, "भारत में सत्तर के बाद तेजी से स्त्री आन्दोलन का असमान विकास हुआ है। स्त्री उत्पीड़न, छेड़खानी, दहेज प्रथा, बाल विवाह, भ्रूण हत्या, कार्यक्षेत्र में महिलाओं के साथ भेदभाव और वैषम्य, राजनीतिक और सांस्कृतिक भेदभाव के सवालों के साथ स्त्री - अस्मिता, प्रेम पितृसत्ता, महिला के वस्तुकरण आदि सवालों के साथ साम्प्रदायिक और आतंकवाद की शिकार महिलाओं की समस्याएं भी तेजी से विमर्श के केन्द्र में आई हैं।"[1]

लम्बे संघर्ष के बाद महिलाओं ने मतदान का अधिकार, राजनैतिक भागीदारी प्राप्त कर ली है। प्रशासन, वाणिज्य, प्रबंधन, उद्यमिता आदि सभी क्षेत्रों में महिलाओं ने काफी हद तक पहुंच भी

[1] सुधा सिंह, ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 100

बनाई है। लेकिन यह पहुंच उच्चवर्ग की 'पावर वुमेन' ही बना पाई है। महिलाओं की बड़ी संख्या आज भी गरिबी, अशिक्षा और अज्ञानता में जी रही है। स्त्री आंदोलन का केंद्र भी यही उपेक्षित महिलाएं हैं।

आज स्त्री संघर्ष के मुद्दे छोटे - छोटे, बहुत बड़ी संख्या में तथा महत्त्वपूर्ण हैं। आज घरों में स्त्री पर पुरुषों के दबाव के खिलाफ, पारिवारिक शोषण, कार्यस्थल पर पर्याप्त सुविधाओं, समाज तथा धर्म में बराबरी के स्थान आदि के लिए स्त्रियां आंदोलन कर रही हैं, "आज वह सदियों बाद खुली हवा में सांस ले पाने में समर्थ है। आज जिन स्त्रियों ने यौन - शुचिता, पतिव्रत, और सतीत्व जैसी बेड़ियों को उतार फेंका, वे विशिष्ट बन गई हैं। इन स्त्रियों ने स्वयं अपने रास्तों का चुनाव किया और कीमत चुकायी।"[1] इन बेड़ियों से आजाद होने वाली स्त्रियों को प्रेम, सैक्स, इज्जत ही नहीं साथ ही साथ उन्हें निष्ठा और संवेदनशीलता भी चाहिए।

स्त्रियों की स्थिति में धीरे - धीरे ठोस बदलाव आकार ले रहा है और वो भी ऐसे समय में जब देश में मॉल संस्कृति का प्रसार हो रहा है। सौंदर्य के मानक तय करता बाजार स्त्री के जीवन में दर्द एवं अपराधबोध को भर रहा है। स्त्री की नुमाइश भोग की वस्तु के रूप में होने लगी है। आज महिलाएं सामाजिक ढांचे से तो आजादी प्राप्त कर रही हैं लेकिन बाजार के ढांचे में फंसकर आजादी के नाम पर अनेक तरह की गुलामियों को आत्मसात कर रही हैं। भूमण्डलीकृत युग में बाजार द्वारा महिलाओं की आजादी को अलग अर्थों में लिया जा रहा है। मुक्ति, आजादी के नाम पर महिलाएं कुछ हद तक घरों से बाहर तो निकली पर स्वाधीनता का भ्रम पैदा करने वाली 10 - 15 प्रतिशत महिलाएं जो रेंप, पर्दों, विज्ञापनों, सौंदर्य प्रतियोगिताओं में नजर आने लगी और देह की आजादी के नाम पर पूंजीवाद के चंगुल में गिरफ्त होने लगी। फर्क सिर्फ इतना है कि सामंती व्यवस्था में व्यक्तिगत रूप से भोगी जाने वाली स्त्री पूंजीवाद के दौर में सार्वजनिक रूप से उपभोग की वस्तु बनाई जाने लगी। आजादी का यह भ्रम पहले से भी ज्यादा खतरनाक है क्योंकि इसमें शोषक की पहचान भी सीधे तौर पर नहीं की जा सकती। इस बदलाव को साहित्य में ढालने का

[1] राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 16

काम स्त्री लेखकों ने किया है। स्त्री की बदलती छवि को नारीवादी लेखकों ने गम्भीरता से लिया और साहित्य में एक बहस की शुरुआत हुई।

3.1.3 स्त्री साहित्य एवं आलोचना

स्त्री आन्दोलन ने साहित्यकारों को प्रभावित किया और आधी आबादी के अस्तित्व, अस्मिता, अधिकारों से जुड़े सवाल साहित्य ने उठाने शुरु किए। साहित्य ने स्त्री आन्दोलन से प्रेरणा ली और आन्दोलन के लिए जमीन भी तैयार की। मेरी वोल्स्टोन, जान स्टुअर्ट मिल, सीमोन, केटमिलट, वैटी, फरीडन, इरीगैरों, अन्ना - सीवार्ड, हेलन, मारिया, जेनटेलर, मेरी रसेल आदि ने साहित्य में स्त्री प्रश्न को उठाया। इन चिंतकों ने स्त्री सम्बन्धी मुद्दों को रेखांकित करते हुए पितृसत्तात्मक समाज पर प्रश्नचिन्ह लगाए। स्त्री शिक्षा तथा उसकी पारिवारिक, सामाजिक स्थिति में बदलाव की मांग इनके लेखन में बार - बार उभरी।

मेरी वोल्स्टोन की पुस्तक 1792 में 'महिलाओं के अधिकारों का समर्थन' (Vindication of the Rights of Women)में महिला अधिकारों की बात जोरदार ढंग से उठाई। 1865 में जान स्टुअर्ट मिल ने महिलाओं की अधीनता (The Subjection of Women)नामक पुस्तक में महिलाओं की कार्यप्रणाली को अलग रूप में देखने की कोशिश की। 1884 में 'परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' में एंगेल्स ने मातृवंशीय व्यवस्था व विवाह संस्था के स्वरूप पर चर्चा करते हुए महिला शोषण का कारण पूंजी को माना। सीमोन दी बोऊवा की पुस्तक 'स्त्री उपेक्षिता (1947)' ने स्त्री आंदोलन तथा विमर्श को एक नई दिशा दी। भारतीय भाषाओं में अरुंधती रॉय, अमृता प्रीतम, तसलीमा नसरीन, महाश्वेता देवी आदि स्त्री लेखन को दिशा दी।

आदिकाल व भक्तिकाल में देवीस्वरूपा स्त्री रीतिकाल आचार्यों के सामने भोग्या बनी। नवजागरण काल में आते - आते सभी क्षेत्रों में जागृति की बात उठने के साथ ही स्त्री स्वातंत्र्य की बात भी नवजागरण काल के अग्रदूत भारतेन्दु ने बड़े जोर - शोर से उठाई। 1874 के आस - पास समाज में चल रही उथल - पुथल का एक कारण भारतेन्दु महिलाओं की अशिक्षा को मानते हैं,

"देश की गुलामी के पीछे कारण है समाज में फैली कुरीतियाँ हैं और वे मानते हैं कि इन कुरीतियों के पीछे नारी की स्थिति तथा अशिक्षा है।"[1] उन्होंने 'बालाबोधिनी' पत्रिका में स्त्री शिक्षा तथा शिशुपालन जैसे विषयों पर लेख छापकर महिलाओं को स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारियां उपलब्ध करवाई।

सुभद्रा कुमारी चौहान (1904 - 1948) ने स्त्रियों की सामाजिक - पारिवारिक स्थितियों को रेखांकित किया है तथा उनमें परिवर्तन की मांग की है, "सुभद्रा कुमारी चौहान डंका पीटकर बदलते परिदृश्य में स्त्री - पुरुष सम्बन्धों के परम्परागत स्वरूप में लचीलेपन और परिवर्तन की मांग करती हैं।"[2] सुभद्रा कुमारी चौहान का साहित्य घरेलू साहित्य नहीं है बल्कि उसमें पूरा समाज है। सामाजिक ताने - बाने में फंसी स्त्री की स्थिति को लेकर सुभद्रा कुमारी चौहान बेहद चिंतित है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था को वे स्त्रियों की दुर्दशा का कारण मानती हैं तथा इसे बदलने के लिए पुरुषों को नसीहत देती हैं, "सुभद्रा कुमारी चौहान चुनौती देकर पितृसत्तात्मक व्यवस्था को अपने भीतर झांककर जवाब तलाशने की सलाह देती हैं।"[3] आनंद प्रकाश ने सुभद्रा कुमारी चौहान की ईमानदारी को रेखांकित करते हुए कहा है कि "पुरानी पारिवारिक संरचनाएं आधुनिक विचारशील नारी के लिए अनावश्यक बाधा प्रस्तुत करती हैं। अनेक स्थितियों में नारी की सक्रियता उसे एक ओर ले जाती है, और पुरुष - प्रधान समाज की पारंपरिक नियमावली उसे दूसरी ओर खींचती है। अपनी कथा में इस मसले को सुभद्रा कुमारी चौहान वास्तविक तथा नैतिक शैली में एक साथ परखती हैं। ध्यान देने की बात यह है कि उनका बल निरंतर नारी की साहसिकता और ईमानदारी पर रहता है।"[4] स्त्रियों के ऐतिहासिक महत्त्व को रेखांकित करते हुए महारानी लक्ष्मीबाई की वीरता पर कविता लिखकर सुभद्रा कुमारी चौहान ने अपने अलग दृष्टिकोण का परिचय दिया। वे 1857 की क्रांति की 75वीं सालगिरह पर 'झांसी की रानी (1927)' कविता लिखने वाली पहली लेखक हैं।

---

[1] विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, चन्द्रशेखर कंबार, के. श्रीनिवासराव (सम्पादक), समकालीन भारतीय साहित्य, अंक - 179, मई - जून 2015, पृष्ठ - 184

[2] नामवर सिंह (सम्पा.), आलोचना, अंक 48, पृष्ठ - 53

[3] वही, अंक 48, पृष्ठ - 53

[4] आनन्द प्रकाश, सुभद्रा कुमारी चौहान की श्रेष्ठ कहानियां, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, पृष्ठ - 8

महादेवी वर्मा अपनी कृतियों अतीत के चलचित्र, स्मृति की रेखाएं, शृंखला की कड़ियां (1942) में भारतीय स्त्री के जीवन के अलग - अलग पक्षों को उजागर किया है। स्त्री मुक्ति के संदर्भ में महादेवी वर्मा का कहना है कि स्त्री को अपनी सामाजिक - सांस्कृतिक जमीन चाहिए, जहां वह खुलकर रह सके। उसे अपना स्थान, अपना स्वत्व चाहिए, "हमें न किसी की जय चाहिए, न किसी से पराजय। न किसी पर प्रभुत्व चाहिए, न किसी पर प्रभुता। केवल अपना वह स्थान, वे सत्व चाहिए जिनका पुरुषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परन्तु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी।"[1] आत्मसंपन्न हुए बिना स्त्री की मुक्ति संभव नहीं है। महादेवी ने स्त्री की सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति के प्रति चिंता व्यक्त की है। स्त्रियों की सामाजिक आजादी की बात करते हुए महादेवी वर्मा जोर देकर कहती हैं कि स्त्री को गुलाम बनाकर रखने वाले नियमों को समय के साथ बदलने की जरुरत है, "कोई नियम, कोई आदर्श, सब काल और परिस्थितियों के लिए नहीं बनाया जाता। सब में समय के अनुसार परिवर्तन संभव ही नहीं अनिवार्य हो जाते हैं।"[2] महादेवी के निबंधों में स्त्री जीवन का यथार्थ व्याप्त है। उनका कहना है कि स्त्री भी इंसान है और उसे भी बराबर अधिकार तथा सम्मान मिलना चाहिए। लेकिन स्त्री को यह सम्मान तभी हासिल होगा जब उसे पुरुष के बराबर का दर्जा मिले। स्त्री पुरुष के लिए इंसान न होकर मात्र एक वस्तु है जिसकी तुलना महादेवी वर्मा ने पशु - पक्षियों से की है, "इस समय तो भारतीय पुरुष जैसे अपने मनोरंजन के लिए रंग - बिरंगे पक्षी पाल लेता है, उपयोग के लिए गाय और घोड़ा पाल लेता है, उसी प्रकार वह एक स्त्री को पालता है तथा पालित पशु - पक्षियों के समान ही वह उसके शरीर और मन पर अधिकार समझता है। हमारे समाज के पुरुष के विवेकहीन जीवन का चित्र देखना हो तो, विवाह के समय गुलाब - सी खिली हुई, स्वस्थ बालिका को पांच वर्ष बाद देख लीजिए। उस समय असमय प्रौढ़ हुई दुर्बल संतानों की रोगिणी पीली माता में कौन - सी विवशता, कौन - सी रुला देने वाली करुणा न मिले।"[3] महादेवी वर्मा ने स्त्री की इस स्थिति का जिम्मेवार पुरुष को माना है तथा पुरुष की मानसिकता को बदलने की जरुरत महसूस की है।

---

[1] महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,'अपनी बात' से

[2] वही, पृष्ठ - 108

[3] वही, पृष्ठ - 102

महादेवी के साहित्य में दुख, वेदना, आंसू और रहस्यवाद के साथ - साथ संघर्ष, चेतना, असंतोष और आक्रोश भी है। 'रहस्यवादी' और 'नीर भरी दुख की बदली' कही जाने वाली महादेवी का स्त्री दृष्टि से अध्ययन इससे पहले नहीं हुआ था। अपने समय तथा समाज के प्रति बेचैनी तथा विद्रोह से भरी हुई महादेवी वर्मा द्वारा अपने प्रेम को व्यक्त करने के लिए रहस्यवाद का सहारा लेना भी अपने आप में एक सवाल है। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, "महादेवी वर्मा भारतीय स्त्री के जीवन के अनुभवों और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति करने वाली कलाकार हैं, उसके जागरण का अभियान चलाने वाली कार्यकर्त्ता और उसकी पराधीनता के जटिल रूपों का विश्लेषण तथा स्वाधीनता की संभावनाओं की तलाश करने वाली दार्शनिक भी हैं।"[1]

इस परम्परा को आगे बढ़ाते हुए समकालीन स्त्री लेखकों कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, चित्रा मुद्गल, सूर्यबाला, राजी सेठ, नमिता सिंह, ममता कालिया, मृदुला गर्ग, निरुपमा सेवती, अनामिका, अल्का सरावगी, नासिरा शर्मा, निर्मला पुतुल, कात्यायनी, आदि ने स्त्री समस्याओं को यथार्थ रूप में उजागर किया है।

स्त्रीवादी तथा स्त्री समर्थक लेखकों ने पुरुष वर्चस्व को चुनौती दी है, स्त्री विरोधी पितृसत्तात्मक नैतिकताओं का खण्डन किया है तथा लिंग - भेद पर आधारित भाषा को बदलकर नई भाषा गढ़ने का प्रयास किया है। सालों से चली आ रही स्वत्वहीनता तथा चुप्पी को तोड़कर स्त्री साहित्य ने अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई है। आधी आबादी से जुड़े मुद्दों को उठाने वाले स्त्री विमर्श को हिंदी साहित्य ने पर्याप्त स्पेस दिया है। सामाजिक विसंगतियों से उपजा स्त्री साहित्य मुख्यधारा के साहित्य में अपनी जगह निर्धारित कर चुका है। स्त्री साहित्य जीवन की कटु सच्चाइयों का रोचक एवं प्रामाणिक दस्तावेज प्रस्तुत कर रहा है। "स्त्रियों का रचनात्मक लेखन नारी मुक्ति और जागरण का एक माध्यम है, उनकी स्वतंत्रता की आकांक्षा और अभिव्यक्ति का

[1] मैनेजर पाण्डेय, भरतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 123

साधन भी।"[1] स्त्री लेखन समाज के जटिल प्रश्नों के प्रति संवेदनशील है। बदलते सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक परिदृश्य को स्त्री लेखन भली - भांति समझ रहा है।

स्त्री लेखन सिर्फ शौकिया लेखन नहीं है, न ही फुलकारी काढ़ने जैसा है बल्कि यह स्त्री के अस्तित्व के लिए संघर्ष है। लेखन उनके लिए कोई उबाऊ काम नहीं है, यह उनके लिए जीवन का सवाल है। मन्नू भंडारी लेखन को आपदाओं से राहत का साधन मानती हुई कहती हैं कि "आज लेखन की शक्ति के बारे में सोचती हूं तो आश्चर्य होता है। आदमी यदि निरन्तर लिखता रहे तो कितनी आपदाओं - विपदाओं को सहज ही दरकिनार कर सकता है।..... मैं ही अपनी दुखती रगों और खाली कोनों को अपने लेखन से पूरा करने की कोशिश करती रहती थी।"[2]

स्त्री विमर्श उन सभी पौराणिक ग्रंथों, रीति - रिवाजों, साहित्य, इतिहास, मिथक, धार्मिक - सांस्कृतिक बंधनों आदि को चुनौती देता है जो एकांगी हैं। यह विमर्श वर्ग, वर्ण, जाति, नस्ल, क्षेत्र से ऊपर उठकर स्त्री के दमन, शोषण तथा उत्पीड़न का विरोध करता है।

विश्व के लगभग सभी देशों में स्त्री लेखन पर चर्चा से स्त्री विमर्श को जगह मिल रही है। 'हाशिये' को 'मुख्यधारा' में लाने की बात जोर शोर से उठने लगी है। पिछले कुछ समय में रचनात्मक स्त्री लेखन के बराबर तो नहीं पर पहले की तुलना में स्त्रियों के समीक्षात्मक लेखन में बढ़ोतरी हुई है, स्त्री आलोचकों की संख्या में गुणात्मक वृद्धि हुई है। उबाऊ, नीरस, एकरस, घरेलू तथा दोयम दर्जे का कहलाया जाने वाला स्त्री लेखन स्त्री आलोचना की बौद्धिकता के साथ सिर उठाकर खड़ा होने लगा है। स्त्री आलोचना में सक्रिय प्रदर्शन ने स्त्री साहित्य पर लगे बेबुनियाद आरोपों को खारिज करने का काम किया है।

भारतीय साहित्य में स्त्री आलोचना के क्षेत्र में बांग्ला में निरुपमा देवी, महाश्वेता देवी, ज्योतिर्मयी देवी, विनोदिनी दास। मराठी में ताराबाई शिंदे, काशीबाई कानेटकर, रमाबाई रानाडे, उर्दू में रुकैया सखावत हुसैन, इस्मत चुगताई, कुर्रतुल ऐन हैदर आदि स्त्री आलोचकों ने आलोचना

[1] चन्द्रा सदायत, सुभद्रा कुमारी चौहान की श्रेष्ठ कविताएं, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, पृष्ठ -12

[2] मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 67

को समृद्ध किया। हिंदी में सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा, आशारानी व्होरा, नीरा देसाई आदि ने कथा लेखन के साथ - साथ आलोचनात्मक साहित्य के द्वारा स्त्री - विमर्श की परम्परा को मजबूत किया। स्त्री विमर्श की इस परम्परा को आगे बढ़ाया अनामिका, प्रभा खेतान, कुसुम अंसल, अर्चना वर्मा, कात्यायनी, मृणाल पाण्डेय, मैत्रेयी पुष्पा, नासिरा शर्मा, सरला माहेश्वरी, क्षमा शर्मा, मनीषा पाण्डेय आदि ने। इन लेखिकाओं द्वारा रचित साहित्य में स्त्री विमर्श को देखते हुए उसे 'पश्चिम की देन' कहना बेमानी लगता है।

अनामिका द्वारा रचित पुस्तक 'स्त्रीत्व का मानचित्र' ने हिंदी में स्त्री - विमर्श की सैद्धांतिकी के निर्माण में योगदान दिया है। स्त्री आंदोलन को ऐतिहासिक, पौराणिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने का गम्भीर प्रयास अनामिका ने किया है। स्त्री विमर्श से जुड़े पश्चिमी पूर्वाग्रहों को तोड़ने के लिए इस पुस्तक में अनामिका ने पश्चिमी तथा भारतीय संदर्भों में स्त्रियों की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

कात्यायनी की पुस्तक 'दुर्ग द्वार पर दस्तक' अलग - अलग समय पर उनके लिखे लेखों का संग्रह है। जिसमें इतिहास - बोध को वैज्ञानिकता तथा तार्किकता के साथ प्रस्तुत कर लेखिका ने स्त्री - विमर्श के जटिल सवालों के विविध पक्षों को खोलकर रखा है। स्त्रियों को संगठित करने और आंदोलन की कार्यवाहियों में शामिल कात्यायनी ने व्यावहारिक स्त्री लेखन किया है। स्त्री मुक्ति के प्रश्न को समग्रता के साथ उठाते हुए इसके सामाजिक - सांस्कृतिक पक्षों पर विस्तार से विचार किया गया है। मार्क्सवाद से प्रभावित होते हुए भी कात्यायनी स्त्री मुक्ति को सिर्फ आर्थिक स्थितियों के परिवर्तन में ही नहीं देखती बल्कि सामाजिक संरचना के बदलाव को स्त्री मुक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण मानती हैं।

मृणाल पाण्डेय ने अपनी पुस्तकों 'स्त्रीः देह की राजनीति से देश की राजनीति तक (1987)' तथा 'परिधि पर स्त्री (1996)' द्वारा स्त्री विमर्श में एक नया अध्याय जोड़ा है। इन्होंने ग्रामीण तथा शहरी, घरेलू तथा कामकाजी महिलाओं के शोषण - उत्पीड़न, उलझनों संघर्षों आदि को वैचारिक धरातल प्रदान किया है। उनका कहना है कि स्त्री की स्थिति में बदलाव सिर्फ नारों या

भाषणों से नहीं आ पाएगा बल्कि स्त्री के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाने से ही यह संभव है। सामाजिक मर्यादाओं एवं धारणाओं का पर्दाफाश करते हुए लेखिका ने स्त्री विमर्श को सार्थक जमीन प्रदान की है।

क्षमा शर्मा के लेखों का संग्रह 'स्त्री का समय' दुख और आक्रोश को व्यक्त करता है। तीसरी दुनिया के देशों के महानगरिय जीवन में मध्यवर्गीय स्त्री की बदलती छवि का चित्रण पुस्तक में है। भ्रूण हत्या, दहेज, घरेलू हिंसा, संस्कार, नैतिकता, मर्यादा, फैशन शो, सौंदर्य प्रतियोगिता आदि में उलझी तथा परिवार एवं विवाह संस्था में फंसी स्त्री की स्थिति को क्षमा शर्मा ने उजागर किया है।

सरला महेश्वरी ने अपनी पुस्तक 'नारी प्रश्न (1998)' में स्त्री आंदोलन की अंतर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि के आधार पर स्त्री की सामाजिक स्थिति का मूल्यांकन किया है। पुस्तक में स्त्रीवादी विमर्श एवं मार्क्सवादी विचारधारा पर सूक्ष्मता से विस्तारपूर्वक चर्चा है। पश्चिमी स्त्रीवादी विमर्श पर ही लेखिका का अधिक ध्यान रहा है।

प्रभा खेतान की पुस्तक 'उपनिवेश में स्त्री' में विश्वस्तर पर चल रहे स्त्रीवादी आंदोलनों के सामने आ रही चुनौतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। भारत में हो रहे आर्थिक, राजनैतिक एवं औद्योगिक बदलावों के संदर्भ में स्त्री आंदोलन की स्थिति एवं स्वरूप पर पुस्तक में चर्चा की गई है।

इनके अलावा हिंदी में सुधा सिंह की पुस्तक 'ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ', मृदुला गर्ग की 'चुकते नहीं सवाल', अर्चना वर्मा की 'अतीत होती सदी में स्त्री का भविष्य', नासिरा शर्मा की 'औरत के लिए औरत', मैत्रेयी पुष्पा की 'खुली खिड़कियां' आदि स्त्री विमर्श की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

स्त्री विमर्श में पुरुष लेखकों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जिनमें मुख्य रूप से अरविंद जैन की 'औरत होने की सजा', 'उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार','न्याय क्षेत्रे अन्याय क्षेत्रे', 'औरत अस्तित्व और अस्मिता' राजेन्द्र यादव की 'आदमी की निगाह में औरत', 'औरत

उत्तरकथा' आदि का नाम लिया जा सकता है। इन पुस्तकों के माध्यम से पुरुष लेखकों ने स्त्री विमर्श के सरोकारों को संवेदनशीलता के साथ उद्घाटित किया है।

हिंदी की स्त्री आलोचना को सुमन राजे, निर्मला जैन तथा रोहिणी अग्रवाल ने समृद्ध किया। सुमन राजे ने 'इतिहास में स्त्री' तथा 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' लिखकर उस आधी आबादी की आवाज को जगह दी है जिसे पहले के इतिहासकारों ने गम्भीरता से नहीं लिया था। निर्मला जैन ने हिंदी आलोचना में नई स्थापनाएं प्रस्तुत करके स्त्री आलोचकों के प्रति बनी धारणा को तोड़ा। रोहिणी अग्रवाल ने हिंदी आलोचना को नया मुहावरा दिया। स्त्रीवादी आलोचना से भिन्न इन्होंने साहित्य के स्त्री से इतर विषयों पर भी अपनी तार्किक तथा बेबाक राय रखी, "स्त्रीवादी आलोचना का भी हिंदी में पिछले दो दशकों में तीव्र विकास हुआ है और पितृसत्ता, लैंगिक विभाजन, यौनिकता आदि शब्द व्यापक पैमाने पर आलोचना में लोकप्रिय हुए हैं।"[1] स्त्रीवादी आलोचना ने स्त्री लेखन के ऐतिहासिक महत्त्व को पहचानने के साथ - साथ स्त्री विरोधी लेखन की सीमाओं, पूर्वाग्रहों तथा पक्षपात को उजागर किया है।

स्त्री विमर्श के रूप में उठे साहित्यिक आंदोलन से पहले संकीर्ण समझ के साथ ही साहित्यिक कृतियों का मूल्यांकन होता रहा। लेकिन पिछले तीस - चालीस वर्षों में स्त्री की दुनिया में सूचना, संप्रेषण, संचार, प्रौद्योगिकी का प्रवेश हुआ तथा राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक बदलावों ने स्त्री विमर्श को एक नई दिशा दी।

साहित्य की लम्बी परम्परा में स्थित स्त्री लेखकों का मूल्यांकन अब हिंदी आलोचना में होने लगा है। विदूषी गार्गी को अपने पति याज्ञवल्कय से भरी सभा में प्रताड़ना सहनी पड़ी थी। गार्गी का शास्त्रार्थ करना पुरुष को स्वीकार नहीं था, और इसी कारण उसे अपमानित होना पड़ा। 'गाथा सप्तशती' में उल्लेखित स्त्री कवियों रेवा, ससिप्पक्ष, गोहा तथा 'सुतपिटक' में विभिन्न वर्गों से आई 72 बौद्ध भिक्षुणियों को पर्याप्त स्थान हिंदी आलोचना ने प्रदान नहीं किया। भक्तिकाल की विद्रोही तथा चेतनासंपन्न लेखिकाओं दक्षिण की अण्डाल, अक्कमहादेवी, महाराष्ट्र की गोदा,

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 45

बहिनाबाई, कश्मीर की ललद्य मिथिला की चंद्रकला तथा राजस्थान की मीराबाई आदि को उनके समय तथा बाद में भी या तो चरित्रहीन स्त्रियों के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा या रहस्यवादी भक्तिभावना का लेप करके उनके विद्रोही स्वर को दबाया जाता रहा। इन लेखिकाओं के जीवन का त्रास ही इनकी मुक्ति तथा लेखन का आधार बना। पग घुंघरु बांध नाचने वाली मीरा राजपूत परिवार में स्त्री पर लगी पाबंदियों को चुनौती देती हुई मर्यादा को तोड़ने का क्रांतिकारी काम करती है। 'राणा जी रुठयो म्हारा कायी कर लीसे, मोहे तो गुण गोविंद का गास्या हो मायी' कहकर मीरा धार्मिक स्वतंत्रता का वरण करती हुई राजसत्ता को ललकारती है। स्त्री विमर्श ने मीरा के असली रूप को पहचाना। मीरा के संदर्भ में हिंदी आलोचक सुमन राजे कहती हैं, "मीरा जैसा विद्रोही व्यक्तित्व कबीर के अतिरिक्त दूसरा नहीं हुआ। इसलिए उसके समय ने उसे विष का प्याला दिया और हमारे समय ने फुटकर खाता।"[1] हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वाली पहली महिला लेखक सुमन राजे ने स्त्री दृष्टिकोण से इतिहास लेखन करते हुए मीरा का सच्चा मूल्यांकन प्रस्तुत किया।

ब्रिटिशकालीन महिला लेखकों की आत्मकथाओं में चेतना, व्यंग्य तथा सामाजिक बोध अधिक प्रखर रूप में सामने आया है। नटी विनोदिनी की आत्मकथा 'आनार कथा (1863 - 1941)', लक्ष्मीबाई तिलक का स्मृति चित्र, पण्डिता रमाबाई की 'स्त्री बोध नीति (1882)' तथा 'द हाईकास्ट हिन्दू वुमन (1887)', अज्ञात हिंदु औरत की 'सीमंतनी उपदेश (1882)', रुकय्या सकावत हुसैन की 'सुल्ताना का सपना (1905)' तथा 'अवरोध वासिनी (1929)' आदि महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं, जो अपने समय की रुढ़ियों का विरोध करती हैं तथा आडम्बरों का पर्दाफाश। ये वो दस्तावेज हैं जिनके ऐतिहासिक महत्त्व को उजागर ही नहीं किया गया। स्त्री विमर्श के उभार ने इन रचनाओं का नए सिरे से मूल्यांकन प्रारम्भ किया।

[1] वागर्थ, अंक - 24, मार्च 1997, सुमन राजे के लेख 'आधा इतिहास ही गायब है', पृष्ठ - 56

3.1.4 स्त्री साहित्य एवं आलोचना के प्रमुख मुद्दे

आज का स्त्री लेखन पुरुष वर्चस्व को चुनौती देते हुए स्त्री के लिए विकास के समान अवसर, उन्मुक्त प्रेम, देह की आजादी की मांग करता है तथा अनुभव के संसार को लेखन में उकेरता है। इन विषयों को हिंदी आलोचना ने गम्भीरता से लिया।

प्रेम का विषय साहित्य में हमेशा से मौजूद रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र तथा रीतिकालीन साहित्य का केन्द्रीय विषय प्रेम रहा है। प्रेम एक सुखद अहसास है और वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य भी। लेकिन स्त्री द्वारा अभिव्यक्त प्रेम पर श्लीलता - अश्लीलता के सवाल लगातार उठते रहे हैं। नैतिक संरचनाओं में घड़े गए समाज में स्त्री के खुलेपन को सहने और स्वीकार करने की हिम्मत नहीं है और इसीलिए साहित्य में स्त्री द्वारा अभिव्यक्त प्रेम को भक्ति, रहस्य तथा अध्यात्म का वर्क चढ़ाकर पेश किया जाता रहा। आज की हिंदी आलोचना ने सामाजिक दायरों को खींचकर थोड़ा खोल जरुर दिया है और अब लेखन में प्रेम की अभिव्यक्ति को स्पष्ट तौर पर समझा जाने लगा है। इसे स्त्री लेखकों की उपलब्धि ही कहा जा सकता है कि वे नैतिकता की मोहर लेकर घूमने वाले आलोचकों की परवाह छोड़कर प्रेम को सच्चे अर्थों में अभिव्यक्त करने लगी है। प्रेम का विषय स्त्री आलोचना का केंद्रीय विषय बनने लगा है।

उन्मुक्त प्रेम के साथ देह की आजादी का सवाल स्त्री विमर्श का प्रमुख सवाल बना है। आलोचकों तथा विमर्शकारों का मानना है कि स्त्री मात्र दैहिक चिंतन के चक्रव्यूह में फंसने से स्त्री की आजादी संभव नहीं। उसे दैहिक आजादी के साथ - साथ आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक आजादी की भी आवश्यकता है और इसी से उसके अस्तित्व की पहचान और व्यक्तित्व का विकास होगा। स्त्री मात्र देह नहीं है, उसका संपूर्ण अस्तित्व है और यह अस्तित्व उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आजादी से ही उसे प्राप्त हो सकता है।

स्त्री लेखन स्त्री के लिए विकास के समान अवसरों की मांग करता है। स्त्री लेखकों का मानना है कि आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होकर ही स्त्री अपने अधिकारों की मांग कर सकती है। आर्थिक आत्मनिर्भरता के साथ - साथ उसे बाहर निकलने के अवसर भी मिलेंगे जिससे उसे एक

खुला फलक मिलेगा जो उसके व्यक्तित्व का विकास करेगा। स्त्री लेखन में विकास के समान अवसरों पर विशेष जोर दिया जा रहा है जिसे आलोचना गम्भीरता से रेखांकित कर रही है।

विचार की दुनिया में एक विचार दूसरे पर प्रभावी रहता है तथा सांस्कृतिक, राजनैतिक नेतृत्व स्थापित करता है। विचारों के इस नेतृत्व स्थापन को ग्राम्शी ने वर्चस्व (Hegemony) कहा है और किसी भी समाज को समझने के लिए इस वर्चस्व को समझना जरुरी माना। पुरुष का वर्चस्व समाज में इसलिए कायम हो सका क्योंकि वह अपने आप को व्यक्ति, व्यवस्था एवं विचार का प्रतीक मानता रहा तथा स्त्री को वस्तु व भोग्या। स्त्री से अलग हर चीज की व्याख्या, विश्लेषण तथा महिमा मण्डन पुरुष ने किया और उसे संगठित करने का प्रयास किया। वर्ग - विभक्त समाज में शोषित - पीड़ित स्त्री की ज्ञान को उपेक्षा की गई या विकृत व्याख्याएं करके उसे मुख्यधारा के साहित्य में समाहित करने के प्रयास हुए। स्त्री लेखन तथा आलोचना ने हाशिये पर पड़ी स्त्री की खबर ली तथा वर्चस्व के सवाल को नए सिरे से समझने का प्रयत्न शुरु हुआ। अपना प्रभुत्व कायम रखने के लिए स्त्रियों को पारिवारिक, सामाजिक तथा नैतिक जिम्मेदारियों के हवाले से पितृसत्ता की बेड़ियों में जकड़ा जाता रहा जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में हुई। समकालीन स्त्री साहित्य ने इन दमनकारी मूल्यों का विरोध किया है। स्त्री लेखन अपने आप में ही पुरुष वर्चस्व के लिए चुनौती है जिसकी आलोचना के विकास से पुरुष लेखन के अंतर्विरोध भी सामने आने लगे हैं। पुरुष वर्चस्व के अधीन सामाजिक संरचना में आलोचना स्त्री की अस्मिता तथा अस्तित्व को ढूंढने का सशक्त प्रयास कर रही है। 'औरत के हक में' सोचने, बोलने और लिखने का बढ़ रहा है।

आलोचना स्त्री लेखन की अलग भाषा की बात करती है जिसे स्त्रीभाषा कहा जाता है। 'मैन मेड लैंग्वेज' में स्पेण्डर ने स्त्रीभाषा पर विचार करते हुए लिखा है कि "स्त्रियां इस बात से वाकिफ हैं कि पुरुष श्रेष्ठता एक मिथ है और वे इस ज्ञान को कई स्तरों पर बरतती है। पुरुष हमेशा से इस सामाजिक स्थिति में रहे हैं कि वे पुरुष श्रेष्ठता का मिथ निर्मित कर सकें और इसे स्वीकार भी करवा सकें। प्रत्येक दिन हम अपने संसार का निर्माण पुरुष नियमों के अनुसार करते हैं और इन नियमों के निर्माण का अहम हिस्सा भाषा है। भाषा इस दुनिया को वर्गीकृत और व्यवस्थित करने

का माध्यम है।"[1] सुधा सिंह भाषा की निर्मिति पर सवाल उठाती हुई कहती हैं कि "हम बड़े आराम से कहते हैं कि भाषा सामाजिक निर्मिति है। भाषा का जन्म जैसा कि अन्सर्ट फिशर ने माना है कि श्रम की सामूहिक प्रक्रिया में हुआ, तो सवाल किया जाना चाहिए कि इस प्रक्रिया में स्त्री की भागीदारी थी कि नहीं?..... भाषा अगर सामाजिक निर्मिति है तो निर्माण के बाद की भी लड़ाई हुई होगी। इसी कारण श्रम के क्षेत्र में स्त्रियों, कालों और मजदूरों की मौजूदगी के बाद भी भाषा में इनकी उपस्थिति गौण है। इन्हें ऐसी भाषा का प्रयोग करना पड़ा जो अपनी नहीं है। स्त्रियां पुरुष की भाषा को 'मालिक की भाषा' में बोलने के लिए बाध्य होती हैं..... कोई भाषा पुंसवादी है इसे बतलाने के लिए शब्दों की बहुतायत और अर्थ की सकारात्मकता दो प्रमुख आधार हैं। एक व्यवस्था के रूप में भाषा लैंगिक गैरबराबरी पर टिकी है। उन पदबंधों के निर्माण में स्त्री की क्या भूमिका है जो उन्हें तुच्छ, वंचित और छोटा बनाती है।"[2] स्त्री विमर्शकार व्याकरणिक पाठ्यक्रमों को सामने रखकर सामाजिक संरचना में स्त्री - पुरुष की भूमिका में अंतर को रेखांकित करते हैं। उनका मानना है कि व्याकरण के आधार पर ही संस्थाओं के पाठ्यक्रम तैयार होते हैं और वहीं से समाज की पुरुषवादी और अभिजात मानसिकता तय होती है।

साहित्य लेखन में दृष्टि के निर्माण के संदर्भ में दो मत प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार साहित्यकार का वर्ग, वर्ण, लिंग, धर्म, जाति, रंग, परिवेश आदि के आधार पर उसकी दृष्टि का निर्माण होता है। जबकि दूसरे मत के अनुसार साहित्यिक दृष्टि या चेतना को वर्ग, वर्ण, लिंग, धर्म, जाति, रंग, परिवेश आदि से जोड़कर देखना गलत है। साहित्यकार का भाव बोध, जीवन दृष्टि तथा चेतना ही लेखन का आधार होते हैं। इस मत के अनुसार चेतना संपन्न साहित्य की रचना स्त्री तथा पुरुष दोनों कर सकते हैं तथा किसी भी साहित्य का वर्ग, वर्ण, लिंग, धर्म, परिवेश आदि से उपर उठकर चेतना के आधार पर समग्र मूल्यांकन होना चाहिए। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में समग्र मूल्यांकन की यह धारणा भ्रम पैदा करती है। ऐसे में स्त्री आलोचना स्त्री - साहित्य के अलग मूल्यांकन की मांग करती है। स्त्री अपनी भूमिका पहचानकर आज पितृसत्ता के नकार का साहस

---

[1] सुधा सिंह, ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, ग्रथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 140

[2] वही, पृष्ठ - 144 - 145

दिखा रही है। स्त्री के विरोध का स्वर साहित्य में गूंजने लगा है, स्त्री लेखन के विस्तार के साथ ही साहित्य में स्वतंत्र 'स्त्री दृष्टि' की मांग उठने लगी है, "सच्चाई यही है कि स्त्री और पुरुष दोनों के लेखन में भावबोध, जीवन दृष्टि और चेतना के स्तर पर जो प्रकट होता है वही उनकी रचनाशीलता में भी अभिव्यक्ति पाता है और उसी फर्क की पहचान साहित्य की आलोचना में स्त्री दृष्टि की पहली शर्त है।"[1] स्त्री लेखन एवं स्त्रीवादी आलोचना ने स्त्री की दृष्टि को जगह दी है।

स्त्री लेखकों का मानना है कि स्त्री के स्वत्व, चिंताओं व आकांक्षाओं को स्त्री ही ज्यादा गहराई से समझ व व्यक्त कर सकती है। धूमिल की पंक्ति 'लोहे का स्वाद घोड़ा ही जानता है जिसके मुहं में लगाम होती है।' इस संदर्भ में याद की जानी चाहिए। स्त्रियों के अहम सवाल पुरुषों के लिए सतही, व्यक्तिगत तथा महत्त्वहीन हो सकते हैं। स्त्री विचारकों का मानना है कि पुरुष लेखकों का स्त्री लेखन मात्र अनुमान पर आधारित है और अनुमान के आधार पर सच्चाई सामने नहीं आ सकती। महादेवी वर्मा के शब्दों में इसे समझना ठीक रहेगा "पुरुष के द्वारा नारी का चरित्र अधिक आदर्श तो बन सकता है, परंतु अधिक सत्य नहीं। विकृति के अधिक निकट पहुंच सकता है, परंतु यथार्थ के अधिक समीप नहीं, पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है, परंतु नारी के लिए अनुभव। अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेगी, वैसा पुरुष बहुत - बहुत साधना के उपरांत भी शायद ही दे सके।"[2] आलोचना स्त्री के अनुभव संसार को समझते हुए उसे अलग रुपों में व्याख्यायित कर रही है, जिसमें समय तथा समाज की असलियत को पहचान कर संभावनाओं को तलाशा जा रहा है।

3.2 दलित विमर्श

पिछले कुछ वर्षों में दलित विमर्श भारतीय तथा हिंदी साहित्य के पटल पर प्रखरता से उपस्थित हुआ है। सदियों से भेदभाव का शिकार रहे शोषित - उत्पीड़ित दलित वर्ग में सामाजिक संरचना के विरुद्ध आंदोलन हुए। जिनसे दलित साहित्य की स्वतंत्र धारा का जन्म हुआ। मराठी से शुरु हुए दलित आंदोलन की हिंदी में समृद्ध परंपरा बनी। दलितों के जीवन, मुद्दों तथा संघर्षों पर

[1] डा. जगदीश्वर चतुर्वेदी (सम्पा.) स्त्री - अस्मिताः साहित्य और विचारधारा, आनंद प्रकाशन, कलकता, चन्द्रा सदायत के लेख 'साहित्य में स्त्री दृष्टि' लेख से, पृष्ठ - 195

[2] महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 89

विविध आयामी साहित्य व चिंतन हुआ है, जिसने भाषा, संस्कृति, धर्म तथा सौंदर्यशास्त्र के सवालों को उठाया है।

3.2.1 अर्थ एवं परिभाषा

दलित का अर्थ है मसला या कुचला हुआ, दबाया हुआ। दलित के लिए शूद्र, अतिशूद्र, अस्पृश्य, अत्यंज, चाण्डाल आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है। दलित शब्द किसी रूढ़ अर्थ को अभिव्यक्त नहीं करता, बल्कि समय - समय पर इस शब्द के अर्थ बदलते रहे हैं। दलित शब्द साहित्य के साथ - साथ सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्र में सशक्त आन्दोलन के रूप में अभिव्यक्त हुआ है, जिसे विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषित किया है।

दलित आंदोलन के पुरोधा डा. भीमराव आम्बेडकर ने दलित शब्द को परिभाषित करते हुए अस्पृश्य, आदिवासी और जरायम पेशा जातियों को इसमें शामिल किया। मराठी के प्रसिद्ध दलित साहित्यकार नामदेव ढसाल ने दलित को परिभाषित करते हुए उसमें समस्त पीड़ितों - वंचितों को शामिल किया है। सामाजिक - सांस्कृतिक भेदभाव व आर्थिक शोषितों को दलित की श्रेणी में शामिल करते हुए उन्होंने लिखा है कि "अनुसूचित जाति, जनजाति, बौद्ध, श्रमिक जनता, मजदूर, भूमिहीन, खेत - मजदूर और आदिवासी दलित हैं।"[1]

नारायण सुर्वे सिर्फ पिछड़ी जातियों को ही दलित नहीं मानते उनका कहना है कि "दलित शब्द की मिली - जुली परिभाषाएं हैं, इसका अर्थ केवल बौद्ध या पिछड़ी जातियां ही नहीं, समाज में जो भी पीड़ित हैं, वो सभी दलित हैं।"[2]

हिंदी साहित्य के दलित लेखक व चिंतक मोहनदास नैमिशराय को, "दलित शब्द मार्क्स प्रणीत सर्वहारा शब्द के लिए समानार्थी लगता है लेकिन दोनों में भेद है। दलित के अन्तर्गत

[1] शरण कुमार लिम्बाले, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 93

[2] नारायण सुर्वे, हंस (अक्तूबर 1992), पृष्ठ - 23

सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक शोषण का अन्तर्भाव होता है तो सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है।"[1]

डा. एन. सिंह के अनुसार, "दलित का अर्थ है जिसका दलन, शोषण और उत्पीड़न किया गया हो, सामाजिक, आर्थिक और मानसिक धरातल पर।"[2] दलित - चेतना को मात्र दलित - जीवन के चित्रण के अर्थ में देखना इसके ऐतिहासिक महत्त्व को कमतर करना है, "दलित का शुरूआती अर्थ बहुजन का ही अर्थ देता था, लेकिन कालांतर में मीडिया और जनमानस की दृष्टि में यह भारतीय समाज के वंचित एवं हाशिये की जातियों - उपजातियों के रूप में जाना जाने लगा।"[3]

विद्वानों के विभिन्न मतों पर विचार - विमर्श करने के उपरांत कहा जा सकता है कि दलित की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। व्यवस्था के आर्थिक पीड़ितों की श्रेणी में तो सभी शोषित - दलित - वंचित हैं ही लेकिन सामाजिक तौर पर भेदभाव के पीड़ितों के विशेष अनुभव हैं, जो दूसरे पीड़ितों से जातिगत पीड़ितों को दूर कर देते हैं। यह भी सही है कि इस पीड़ा को केवल सामाजिक तौर पर पीड़ित ही अनुभव कर सकता है।

3.2.2 दलित आंदोलनः सामान्य परिचय

दलित चिन्तन व आन्दोलन ने अपनी विचारधारा का निर्माण ब्राह्मणवादी विचारधारा के प्रमुख घटक वर्ण - व्यवस्था के विरोध में किया है। ब्राह्मणवाद ने वर्ण - धर्म के आधार पर दलितों को ज्ञान तथा सम्पत्ति से हमेशा दूर रखा, इन्हीं वर्चस्वी मूल्यों को चुनौती देकर दलित - दृष्टि का विकास हुआ है। दलित चिंतकों के अनुसार अतीत के लोकायत से दलित विमर्श की परम्परा का गहरा सम्बन्ध है। बौद्धों, सिद्धों और नाथों से होती हुई यह परम्परा मध्यकालीन दलित संतों कबीर, रैदास, नानक, दादू दयाल तक पहुंची जिन्होंने ब्राह्मणवादी व्यवस्था प्रहार किया।

---

[1] नया पथ (अंक - 24 - 25, जुलाई - सितम्बर - 1997), पृष्ठ - 10

[2] डा. एन. सिंह, हिन्दी के स्वातंत्र्योत्तर दलित साहित्यकारों के साहित्य में, परम्परा, संवेदना एवं शिल्प, पृष्ठ - 62

[3] दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे, हाशिये का वृतांत, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 286

आधुनिक काल में समाज सुधार के दौरान जोतिबा फुले, आम्बेडकर, नारायणगुरु, पेरियार के आन्दोलनों को वर्तमान दलित - चिंतन व आन्दोलन की पृष्ठभूमि, परम्परा व स्रोत के तौर प रदेखा जा सकताहै। इन्होंने अपनी रचनाओं व जीवन संघर्षों से दलित आबादी के शोषित, पीड़ित, वंचित वर्ग को मुक्ति - संघर्ष की दिशा प्रदान की।

1873 में जोतिबा फुले ने 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। अपनी क्रांतिकारी पुस्तक 'गुलामगिरी' में उन्होंने ब्राह्मणवादी मूल्यों और षडयन्त्रों का विरोध किया, "मनुष्य को आजाद होना चाहिए, यह उसकी बुनियादी जरुरत है..... आजाद होने से मनुष्य अपने सभी मानवीय अधिकार प्राप्त कर लेता है।"[1] जोतिबा फुले ने धार्मिक - पाखंडों, नियतिवाद तथा रुढ़िवाद का विरोध किया, सांस्कृतिक वर्चस्व को चुनौती दी।

20वीं सदी में दलित - चिंतन व आन्दोलन को डा. भीमराव आम्बेडकर ने नई दिशा दी। डा. आम्बेडकर ने 'शूद्र कौन', 'अस्पृश्य', 'जाति विनाश', 'बुद्ध और उनका धम्म' आदि पुस्तकों में दलितों की स्थिति में बदलाव की जरुरत पर बल दिया। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के दौरान उन्होंने दलित मुक्ति के सवाल को राष्ट्रीय सवाल के रूप में उभारा। वे न केवल राजनीतिक सत्ता बल्कि सामाजिक परिवर्तन को भी जरुरी मानते थे। उनका मानना था कि भारत में जाति - प्रथा के विनाश के बिना कुछ भी सकारात्मक संभव नहीं है। डा. आंबेडकर ने स्वयं को भारत की वैज्ञानिक चिंतन की परंपरा से जोड़ा। इसलिए उन्होंने बुद्ध, कबीर व फुले को अपना गुरु माना। डा. आम्बेडकर ने समता, स्वतंत्रता तथा बन्धुत्व का भाव फ्रांसिसी क्रांति से न लेकर बुद्ध से ग्रहण किया। उनका चावदार तालाब से पानी पीना व मनुस्मृति का दहन ऐसी घटनाएं थी जिन्होंने इतिहास की गति, दिशा और समाज की चेतना को प्रभावित किया।

ज्यों - ज्यों आम्बेडकर सामाजिक बदलाव के संघर्ष से जुड़ते गए त्यों - त्यों उनका लोकतंत्र में विश्वास बढ़ता गया। राजनीति, समाज, अर्थ व धर्म संबंधी उनके चिंतन का यही केन्द्रीय तत्व रहा। 18 जनवरी 1943 को महादेव गोबिंद रानाडे की 101वीं जयन्ती पर दिए गए

[1] एल. जी. मेश्राम, विमल कीर्ति (अनुवादक, सम्पा.), महात्मा जोतिबा फुले रचनावली, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 138

भाषण में ('रानाडे, गांधी और जिन्ना' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित) आम्बेडकर ने कहा कि "लोकतंत्रात्मक शासन के लिए लोकतंत्रात्मक समाज का होना जरूरी होता है। प्रजातंत्र के औपचारिक ढांचे का कोई महत्त्व नहीं है और यदि सामाजिक लोकतंत्र नहीं है तो वह वास्तव में अनुपयुक्त होगा। राजनीतिक लोगों ने यह कभी भी महसूस नहीं किया कि लोकतंत्र शासन तंत्र नहीं है। यह वास्तव में समाज तंत्र है।"[1] आम्बेडकर ऐसी स्थितियां चाहते थे जो लोकतंत्र के अनुकूल हों।

डा. आम्बेडकर ने उत्पीड़न की प्रक्रियाओं व उनके खिलाफ संघर्ष के तरीकों पर अपनी रचनाओं में विस्तार से लिखा, "अस्पृश्यों को जिन गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनमें कम से कम इंसानों का दर्जा पाने की समस्या के बाद दूसरी समस्या भेदभाव पूर्ण व्यवहार की आती है। जीवन में कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जहां अस्पृश्य और हिंदुओं की एक - दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा न होती हो और जिसमें अस्पृश्यों के साथ भेदभाव न किया जाता हो। इसके कारण उन्हें प्रतिक्षण किसी न किसी का, बेरोजगारी का, दुव्र्यवहार का, उत्पीडऩ आदि का डर बना रहता है। यह असुरक्षा की जिंदगी होती है।"[2]

डा. आम्बेडकर ने संविधान निर्माण करते हुए कहा कि "26 जनवरी,1950 को हम अन्तर्विरोधों या विसंगतियों के जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति में तो हम समानता स्थापित करेंगे लेकिन सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में हम असमानता ही बनाए रखेंगे। राजनीति में हम 'एक व्यक्ति, एक वोट और एक मूल्य' के सिद्धांत को मान्यता देंगे। लेकिन सामाजिक और आर्थिक जीवन में हम अपने प्रचलित और पारंपरिक सामाजिक - आर्थिक ढांचे की वजह से 'एक व्यक्ति और एक जैसा मूल्य' के सिद्धांत को नकारते रहेंगे।"[3] जोतिबा फुले तथा आंबेडकर की विचारधारा से ऊर्जा लेकर दलित आंदोलन का विकास हुआ है, जिसके आधार पर इस आंदोलन ने अपनी सैंद्धांतिकी निर्मित की।

---

[1] डा. सुभाष चन्द्र (सम्पा.), आम्बेडकर से दोस्तीः समता और मुक्ति,इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 150

[2] आम्बेडकर, सम्पूर्ण वाग्मय (खण्ड - 9), डा. आम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, पृष्ठ - 169

[3] प्रदीप गायकवाड़ (सम्पा.), मा. रामगोपाल आजाद (अनु.), डा. बाबा साहेब आम्बेडकर के महत्त्वपूर्ण भाषण एवं लेख, समता प्रकाशन, नागपुर, पृष्ठ - 118

3.2.3 दलित साहित्य एवं आलोचना

दलित साहित्य प्रतिरोध का साहित्य है। जिसमें दलित - मुक्ति के मुद्दों को प्रमुखता से स्थान दिया गया है। दलित - विमर्श व आलोचना यहीं से खुराक लेकर फली - फूली है। विमल थोराट दलित साहित्य पर बात करते हुए कहती हैं कि "दलित साहित्य उस विद्रोह का उन्मेष है जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि 'स्वयं' की खोज में निकले हुए एक पूरे समाज का पूर्व परम्पराओं से विद्रोह है एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रयास है।"[1] अपनी विशिष्ट पहचान बनाने के लिए दलित साहित्य ने परंपरागत सौंदर्यशास्त्र पर प्रश्नचिह्न लगाए। इस बहस से दलित विमर्श व आलोचना ने ठोस आकार ग्रहण किया है। दलित साहित्य पर बहुत से सवाल खड़े किए गए उनके उत्तर देने के दौरान ही दलित साहित्य का सौंदर्य - शास्त्र व आलोचना के मानदण्ड विकसित हुए हैं। हिंदी में दलित साहित्यकारों की लम्बी परम्परा है जिसमें ओमप्रकाश वाल्मीकि, डा. एन. सिंह, मोहनदास नैमिशराय, श्यौराजसिंह बेचैन, सुशीला टाकभौरे, दयानंद बटोही आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

पिछले कुछ वर्षों में हिंदी में दलित साहित्य में मात्रात्मक तथा गुणात्मक वृद्धि हुई है। दलित साहित्य यथार्थ की बेखौफ अभिव्यक्ति है। दलित साहित्य ने हिंदी साहित्य में समाज के एक अलग पक्ष को खोलकर रखा है, "दलित साहित्य ने सामाजिक जीवन के उस अनछुए कोने को चित्रित करने का साहस दिखाया है जिसे हिन्दी के रचनाकारों ने अनदेखा किया।"[2]

दलित आत्मकथा दलित साहित्य की सबसे सशक्त विधा है जिसने दलित साहित्य को स्थापित किया है। दलित आत्मकथा स्वानुभूति की जमीन पर उपजा पौधा है जो दलित साहित्य को नया आयाम देता है। दलित आत्मकथा लेखकों द्वारा जीवन की सच्चाइयों को साहित्य जगत के सामने रखने पर जो खलबली मची है वह आत्मकथा की प्रामाणिकता को साबित करती है। दलित आत्मकथा एक व्यक्ति की आत्मकथा नहीं है बल्कि वह दलित जीवन तथा समाज का संपूर्ण चित्र है, "दलित आत्मकथाएं केवल उनके लेखकों के जीवन के तथ्यों - सत्यों, घटनाओं

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 64

[2] नामवर सिंह (सम्पा.)आलोचना, अंक - 48, पृष्ठ - 105

का ब्यौरा देने वाली रचना नहीं हैं, बल्कि यह भारतीय समाज और विशेषकर हिंदी - भाषी क्षेत्र के हिंदू समाज में व्याप्त ऊंच - नीच, जातिगत पूर्वाग्रह एवं घृणा - हिंसा को उद्घाटित करने वाली रचनाएं हैं।"[1] हिंदी साहित्य में ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', मोहनदास नैमिशराय की 'अपने अपने पिंजरे', श्यौराजसिंह बेचैन की 'बेशक्त गुजर गया माली', दया पंवार की 'अछूत', तुलसीराम की 'मुर्दहिया' तथा 'मणिकर्णिका', शरण कुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी', सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' आदि आत्मकथाओं ने साहित्यिक मिथकों तथा भ्रमों को तोड़कर ब्राह्मणवादी विचारधारा की अमानवीयता का यथार्थ प्रस्तुत किया है।

दलित आलोचना तटस्थ भाव से दलित लेखन की विस्तृत व्याख्या करती है। दलित आलोचना अनुभूति की प्रामाणिकता पर विशेष जोर देती है, "दलित आलोचना जीवन और उसके यथार्थ को मानवीय दृष्टिकोण से देखने की समर्थक है। किसी भी रचना को आशय और उसके उद्देश्य के साथ देखा जाना चाहिए। रचना की अन्तर्वस्तु और उसकी विधा यदि जीवन से जोड़ने के बजाय उसे अलग करती है तो साहित्य की भूमिका बदल जाती है। ऐसे विचारों से लैस आलोचक चाहे दलित हो या गैर - दलित, वे समाज में विघटन करने वाले, ब्राह्मणवादी परम्पराओं के पोषक तथा पुरुषवादी समाज के और संस्कृति के पक्षधर होते हैं जिनसे न साहित्य का भला होता है न समाज का। दलित साहित्य सम्पूर्णता में सामाजिक बदलाव की हिमायत करता है। इसीलिए उसने यह रास्ता चुना है।"[2] दलित आलोचना समाजशास्त्रीय दृष्टि से दलित साहित्य का मूल्यांकन करती है। कहीं - कहीं दलित आलोचक अपने जीवन के मात्र कटु अनुभव आलोचना में खोजते हैं। एक तरफ जहां यह आलोचना दलित लेखकों द्वारा रचित साहित्य को ही दलित जीवन का असली दस्तावेज मानती है वहीं दूसरी तरफ हिंदी के मुख्य लेखकों की रचनाओं (प्रेमचंद की कफन, नागार्जुन की हरिजन - गाथा, तथा निराला की कविताओं को निशाना बनाकर) में दलित विरोधी स्वर खोजती है।

---

[1] डा. सुभाष चंद्र, दलित आत्मकथाएः अनुभव से चिंतन, साहित्य उपक्रम, दिल्ली, पृष्ठ - 9

[2] नामवर सिंह (सम्पा.), आलोचना, अंक - 48, पृष्ठ - 105

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में दलित साहित्य एवं आलोचना के उदय के कारणों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "सामाजिक अंतर्विरोध से उपजी विसंगतियों ने दलितों में गहन नैराश्य पैदा किया है। सामाजिक संरचना के परिणाम बेहद अमानवीय एवं नारकीय सिद्ध हुए है। सामाजिक जीवन की दग्ध अनुभूतियां अपने अंत में छिपाए दलितों के दीन - हीन चेहरे सहमे हुए हैं। इन भयावह स्थितियों के निर्माता कौन हैं? दोहरे सांस्कृतिक मूल्यों को पीढ़ी - दर - पीढ़ी ढोते रहने को अभिशप्त जनमानस की विवशता साहित्य के लिए जरुरी क्यों नहीं है? क्यों साहित्य एकांगी होकर रह गया है? ये सारे प्रश्न दलित साहित्य की अंतः चेतना में समायोजित है।"[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य के अलग सौंदर्यशास्त्र की मांग करते हैं तथा उसे सही ठहराते हैं। साहित्य की आलोचना के लिए निर्मित मानदंडों का वे पर्दाफाश करते हैं। उनका मानना है कि दलित आलोचना हिंदी आलोचना के परम्परागत स्वरूप को तोड़ती है। उन्होंने हिंदी आलोचना की प्रभुत्ववादी निर्मितियों को बदलते हुए सामंतवाद तथा वर्णवाद के खिलाफ रचित अस्मितावादी साहित्य के लिए अलग आलोचनात्मक निर्मिति की मांग की है।

दलित आलोचना भी अपने औजारों के साथ विकसित हुई है, हिंदी में दलित साहित्य चिंतकों की भी एक अच्छी खासी संख्या उभरी है। जिनमें मुख्यतः ओमप्रकाश वाल्मीकि, डा. धर्मवीर, कंवल भारती, डा. एन. सिंह, मोहनदास नैमिशराय, गेल ओमवेट, श्यौराज सिंह बेचैन, सूरजपाल चौहान, सुशीला टाकभौरे, जयप्रकाश कर्दम, रमणिका गुप्ता, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, दयानंद बटोही, अजय नावरिया, डा. तेजसिंह, बजरंग बिहारी तिवारी, विमल थोराट आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इन आलोचकों ने दलित साहित्य के विभिन्न पक्षों को उभारते हुए बहुत से मुद्दों पर बात की है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की पुस्तक 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' दलित साहित्य पर लिखे गए लेखों का वैचारिक विश्लेषण करती है। इस पुस्तक में वाल्मीकि जी ने दलित साहित्य के

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 10

सौंदर्यशास्त्र के लिए अलग मानदंडों का निर्धारण किया है। वे दलित साहित्य के भाव तथा शिल्प को अलगाते हुए कहते हैं कि "दलित साहित्य की भाषा, बिम्ब, प्रतीक, भावबोध, परंपरावादी साहित्य से भिन्न है, उसके संस्कार भिन्न है।"[1] दलित आलोचना की मूलभूत आस्थाओं की खोज चेतना के बिंदुओं पर विस्तार से चर्चा करते हुए वाल्मीकि जी दलित साहित्य की आलोचना का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

डा. धर्मवीर ने अपनी पुस्तक 'कबीर के आलोचक' में कबीर के साहित्य का मूल्यांकन करते हुए उन्हें एक दलित रचनाकार के रूप में व्याख्यायित किया है तथा कबीर को इसी रूप में देखने की बात की है। कंवल भारती ने 'दलित विमर्श की भूमिका' में दलित साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते हुए दलित साहित्य के उदय के कारणों को खोजने का प्रयास किया है। इस पुस्तक में भारती जी ने कम्युनिस्ट, आम्बेडकर तथा दलित आंदोलनों का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

डा. एन. सिंह द्वारा सम्पादित पुस्तक 'दलित साहित्यः चिंतन के विविध आयाम' दलित आलोचना की महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसके अलावा 'संतकवि रैदासः मूल्यांकन और प्रदेय' आकार में छोटी लेकिन विचार में बड़ी पुस्तक है। जिसमें एन. सिंह जी ने रैदास के काव्य पर आलोचनात्मक टिप्पणी की है तथा रैदास पर आरोपित भक्त कवि के आवरण को उतारकर उनके क्रांतिकारी रूप को हमारे सामने रखने का प्रयास किया है। साहित्य और दलित साहित्य को अलगाने का काम इस पुस्तक में किया गया है। रमणिका गुप्ता के शब्दों में, "हिंदी दलित साहित्य अपने खोल से बाहर आकर अपने पंख फड़फड़ा कर दबी आवाज में जब चहचहाने का प्रयास कर रहा था तब एन. सिंह ही वे व्यक्ति हैं जिन्होंने इस नवजात शिशु को सहलाया, पोसा और उसे उड़ने की केवल विधाएं ही नहीं बताई बल्कि उसकी उड़ान के लिए एक अपने आकाश के निर्माण की योजना भी बनाई जहां वह मुक्त, निर्बाध, स्वतंत्र होकर उड़े और ऊंची उड़ान भरने का सपना पाल

[1] ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 10

सके।"[1] डा. एन. सिंह ने दलितों की बराबरी का सपना देखते हुए साहित्य के आकाश में उड़ान भरी, जिसने दलित साहित्य को समृद्ध किया।

मोहनदास नैमिशराय दलित चिंतन के महत्त्वपूर्ण लेखक हैं। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन को तत्परता से महसूस करते हुए अपने अनुभवों से जोड़कर अपने चिंतन को गहरा तथा व्यापक बनाया। दलित साहित्य तथा इतिहास के संदर्भ में उन्होंने महत्त्वपूर्ण काम किया। आम्बेडकर से प्रभावित होने के कारण नैमिशराय जी दलितों के एकीकरण की बात बार - बार उठाते हैं। 'हिंदी दलित साहित्य' नामक पुस्तक में दलित साहित्य के इतिहास को राजनैतिक बदलावों के साथ पेश करके नैमिशराय ने साहित्य को समझने का एक अलग दृष्टिकोण प्रदान किया है।

सुशीला टाकभौरे ने अपनी रचनाओं में दलितों में व्याप्त कुरीतियों, अंधविश्वासों तथा दुर्व्यसनों के प्रति चिंता जताई है तथा इसके लिए उन्हें लताड़ा भी है। सुशीला जी दलित साहित्य को उपेक्षा, अपमान तथा पीड़ा को व्यक्त करने वाला साहित्य मानती है। दयानन्द बटोही के साहित्य में परम्परागत रूढ़ मूल्यों का विरोध तथा जागृति का आगाज है। उनकी रचनाओं में दर्द तथा पीड़ादायक अनुभव प्रकट हुए हैं। बटोही जी दलित साहित्य को मानवतावाद की अभिव्यक्ति मानते हैं। आलोचनात्मक पुस्तक 'साहित्य और सामाजिक क्रांति' में वे साहित्य को क्रांति का सबसे बड़ा हथियार बताते हैं।

डा. तेजसिंह दलित साहित्य की बुनियाद की पहचान करवाते हैं। 'आज का दलित साहित्य' पुस्तक उनके दलित साहित्य संबंधी समय - समय पर लिखे गए लेखों का संग्रह है। इस पुस्तक में तेजसिंह कहते हैं कि दलित साहित्य का मूल्यांकन उसकी वर्गीय पहचान तथा सामाजिक सरोकारों से जोड़कर करने की जरुरत है। दलित साहित्य की सांस्कृतिक पहचान का सवाल उठाते हुए वे कहते हैं कि "दलित पिछड़े वर्ग की अपनी अलग सांस्कृतिक पहचान है, जो उन्हें सवर्ण संस्कृति से जोड़ती है। शुरु से ही श्रमण संस्कृति ने ब्राह्मणवादी संस्कृति के वर्चस्व को

[1] डा. रमणिका गुप्ता (सम्पा.), हिंदी साहित्य में दलित संघर्ष के उन्नायक डा. एन. सिंह, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद, भूमिका से

चुनौती दी है। आज यह संकट मूलतः सवर्ण संस्कृति और ब्राह्मणवादी संस्कृति की टकराहट की संस्कृति है।"[1]

विमल थोराट ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तकों 'हिंदी और मराठी के स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में जाति वर्ग संघर्ष' तथा 'दलित साहित्य का स्त्रीवादी पाठ' आदि के माध्यम से दलित चिंतन तथा आलोचना को समृद्ध किया है। दलित जीवन के घिनौने तथा दर्दनाक पहलुओं पर चर्चा करते हुए विमल थोराट विद्रोह का कारण इन अनुभवों की असहनीयता तथा व्यवस्था में परिवर्तन न होने की स्थिति को मानती हैं। विमल जी सामंतवादी समाज व्यवस्था के दोगलेपन पर सीधा प्रहार करती हैं। दलित स्त्री के तीहरे शोषण की जिम्मेदार पितृसत्ता तथा धर्मसत्ता को विमल थोराट सीधे तौर पर चुनौती देती हैं। स्त्री की स्वाधीनता तथा मुखरता को वे जरुरी तथा शोषण से मुक्ति का हथियार मानती हैं।

दलित चिंतक गेल ओमवेट स्त्री तथा किसान आंदोलनों में सक्रिय रही हैं। उनकी आलोचनात्मक पुस्तकों में 'दलित वर्ग एण्ड डेमोक्रेटिक रेवॉल्यूशन' तथा 'दलित दृष्टि' दलित चिंतन की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। उनका संपूर्ण चिंतन वर्ग, जाति तथा लिंग भेद के मुद्दों को उठाता है। दलितों की दासता की आधार संस्कृति को वे धर्म द्वारा पोषित मानती हैं। हिंदु धर्म की पितृसत्तात्मक व्यवस्था को ओमवेट सीधे तौर पर चुनौती देती हैं। ब्राह्मणवादियों द्वारा स्थापित नैतिक मानदण्डों को वे शोषण का मुख्य औजार मानती हैं। गेल ओमवेट जहां एक तरफ दलित आंदोलन की स्थिति, आकांक्षा, धर्म, संस्कृति तथा सत्ता से उसके संबंध, लिंग, जाति, वर्ग आदि के आधार पर पहचान तथा भाषा के सवालों को गहराई से समझती हैं वहीं दूसरी तरफ वे दलित मुक्ति के रास्ते शिक्षा, संगठन तथा संघर्ष में खोजती हैं।

बजरंग बिहारी तिवारी ने दलित चिंतन को मध्यकाल से जोड़ते हुए आधुनिक संदर्भ में उसकी व्याख्या की है। उनकी प्रमुख पुस्तकों में 'जाति और जनतंत्र दलित उत्पीड़न पर केन्द्रित (2015)', 'भारतीय दलित साहित्य आंदोलन और चिंतन (2015)' तथा 'दलित साहित्य एक

[1] डा. ललिता कौशल, हिंदी दलित साहित्य और चिंतन, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, पृष्ठ - 31

अन्तर्यात्रा' आदि हैं। तिवारी जी ने दलित साहित्य के उद्भव एवं विकास को विस्तार से वर्णित किया है। इन्होंने दलित कविता, कहानी तथा आत्मकथाओं का आलोचनात्मक अध्ययन किया है। दलित साहित्य की आलोचना करते हुए इन्होंने पक्षपात रहित दृष्टि अपनाई है जिसमें न किसी का संरक्षण है और न ही नकार। इन्होंने दलित साहित्य का अध्ययन सचेत तथा गम्भीर दृष्टि से किया है। डा. कमलानंद झा के शब्दों में, "इनकी आलोचना का वैशिष्ट्य यह है कि जहां वे दलित साहित्य की आवश्यकता, महत्त्व, प्रासंगिकता और व्याप्ति का संधान पूरे दमखम के साथ करते हैं, वहीं दलित साहित्य की सीमाओं और भटकावों पर उंगली रखने से परहेज नहीं करते हैं। आलोचना का नीर - क्षीर विवेक बजरंग की आलोचना दृष्टि का मुख्य तत्व है।"[1] तिवारी जी दलित साहित्य की अभिव्यक्ति के साथ साथ उसमें नकार की भी जरुरत महसूस करते हैं क्योंकि नकार के बिना बदलाव संभव नहीं है। इस नकार में तिवारी जी गुलामी, यंत्रणा, सवर्णवादी मूल्यों तथा मान्यताओं के नकार को दलित साहित्य की पहचान के रूप में देखते हैं।

3.2.4 दलित साहित्य एवं आलोचना के प्रमुख मुद्दे

सहानुभूति तथा स्वानुभूति का सवाल दलित साहित्य में शुरु से उठता रहा है, जिसमें दो तरह के सवाल है। पहला दलित लेखक ही दलित जीवन की पीड़ा तथा संघर्ष को सही रूप में व्यक्त कर सकता है और दूसरा यह कि गैरदलित लेखक भी अनुमान तथा संवेदना के आधार पर दलित जीवन की सच्चाइयों को व्यक्त कर सकता है। दलित लेखकों का मानना है कि सिर्फ दलित जीवन को जीने वाला, उनके दुखों को समझ तथा व्यक्त कर सकता है कोई दूसरा नहीं। यह बात काफी हद तक सही भी है क्योंकि अनुभव के आधार पर कही गई बात अनुमान के आधार पर कही गई बात से अधिक सच्ची तथा प्रभावी होती है। ज्योतिबा फुले का कहना है कि "गुलामी की यातना को जो सहता है वही जानता है और जो जानता है, वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव, कोई और नहीं।"[2] सिर्फ कल्पना के आधार पर दलित लेखन नहीं किया जा सकता बल्कि स्वयं के भोगे हुए को व्यक्त करना ही सही मायने में दलित साहित्य

[1] डा. सुभाष चन्द्र (सम्पा.), देस हरियाणा, अंक - 5, मई - जून, 2016 में डा. कमलानंद झा के लेख से

[2] देवेन्द्र चौबे, आधुनिक साहित्य में दलित - विमर्श, आरियंट ब्लैकस्वान, दिल्ली, पृष्ठ - 200

है। जीवन के असली रूप को साहित्य में अनुभव के आधार पर ही व्यक्त किया जा सकता है अतः दलित साहित्य तथा आलोचना का स्वानुभूति को सहानुभूति से श्रेष्ठ मानना काफी हद तक सही है।

दलित साहित्य के अलग सौंदर्यशास्त्र की मांग करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि एक साक्षात्कार में बजरंग बिहारी तिवारी के सवाल का जवाब देते हुए कहते हैं कि "सौंदर्यशास्त्र पर लगातार काम करते रहने की जरुरत है। जो एक किताब या एक व्यक्ति के द्वारा नहीं बनाया जा सकता है। यह एक सामूहिक विचार है, जो एक प्रक्रिया के तहत ही रचनात्मक रूप ग्रहण करेगा। दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की बुनावट पारम्परिक, पाश्चात्य और रामचंद्र शुक्ल की अवधारणाओं से निः सन्देह अलग होगी जो किसी भी रचना को सामाजिक संदर्भों से जोड़ता है। साहित्य का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन जरुरी है। दलित साहित्य, साहित्य और समाज के संबंधों को ज्यादा गम्भीरता से लेता है। सौंदर्यशास्त्र का जो स्वरूप बनेगा वही दलित साहित्य की ठीक - ठीक व्याख्या भी कर पाएगा।"[1] दलित साहित्यकार साहित्य को सामाजिक संदर्भों से जोड़कर ही उसे सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टि से सही मानता है न कि रस, अलंकार, छन्द आदि से लादकर।

साहित्य के सौंदर्यशास्त्र की चली आती हुई परंपरा को वाल्मीकि जी उधार ली हुई परंपरा मानते हैं तथा एक अलग सौंदर्यशास्त्र की जरुरत महसूस करते हैं जिसमें केवल रस और आनंद की ही खोज न हो बल्कि यथार्थ जीवन की व्याख्या भी हो। उनका मानना है कि "हिंदी साहित्य का सौंदर्यशास्त्र संस्कृत के काव्यशास्त्र के आधार पर तैयार किया गया है। जिसके तहत उसकी तमाम मान्यताएं सामंतवादी है, और उसके जीवन - मूल्य ब्राह्मणवादी विचारधारा से संचालित होते हैं। उस साहित्य में आनंद और रस की जो महत्ता स्थापित होती है उसे दलित साहित्य स्वीकार नहीं करता है।"[2]

दलित साहित्य में भाषा का सवाल केन्द्रीय सवाल रहा है। दलित साहित्य की भाषा कड़वाहट, संघर्ष तथा आक्रोश से भरी है, उसमें बेचैनी तथा अकुलाहट है। दलित साहित्य

---

[1] कथादेश, अंक - मार्च 2005, पृष्ठ - 67

[2] डा. एम. फिरोज अहमद (सम्पा.), वाग्मय, अंक - 10 - 11, जुलाई - सितम्बर - 2006

परम्परागत साहित्यिक भाषा से अलग ढांचे का निर्माण करता है। यथार्थ पर आधारित दलित साहित्य दलित परिवेश की भाषा को साहित्य में उतारता है, जिसमें दलितों के मुहावरे गालियों में पूरे होते हैं। बहुत से आलोचक दलित साहित्य की भाषा पर अश्लील तथा भद्दी भाषा का आरोप लगाते हैं। लेकिन दलित लेखकों तथा आलोचकों का मानना है कि भाषा अपने परिवेश से कटकर न तो अर्थपूर्ण हो सकती है और न ही सच्ची। दलित साहित्य के बिम्ब, प्रतीक तथा मिथक परम्परागत तथा काल्पनिक नहीं है बल्कि वास्तविक तथा परिचायक हैं।

दलित साहित्य प्रेम, सौंदर्य, भाव आदि में न फंसकर सीधे तौर पर व्यवस्था से प्रतिरोध करता है। दलितों की बदत्तर सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति को सुधारने के लिए यह संघर्ष को अनिवार्य मानता है। दलित चिंतक साहित्य को संघर्ष के एक कारगर औजार के रूप में देखते हैं और इसीलिए वे रचना के भीतर तथा बाहर संघर्षरत्त रहते हैं। दलितों की मुक्ति न्याय तथा बराबरी से ही संभव है। सामाजिक व्यवस्था में हीन समझे जाने वाले दलितों को अगर बराबरी की दृष्टि से देखे जाना शुरु कर दिया जाए तो उनकी बहुत सारी समस्याओं का निदान खुद - व - खुद हो जाएगा। इसलिए दलित चिंतक सामाजिक न्याय तथा बराबरी की बात लगातार अपने लेखन में उठाते हैं। क्योंकि भारतीय समाज में जाति सामाजिक भेदभाव का मुख्य आधार है। समाज में निम्न तथा उच्च जाति में जन्म के आधार पर ही व्यक्ति की हैसियत और उसके स्थान का निर्धारण होता है। जातीय भेदभाव तथा जातीय शोषण को समाप्त करने के लिए जाति व्यवस्था को तोड़ना जरुरी है। दलित साहित्य जाति व्यवस्था को खत्म करने की मांग करता है।

दलित मुक्ति के रास्ते सामाजिक बराबरी के साथ - साथ आर्थिक बराबरी में हैं। जमीन, नौकरियों तथा सम्पत्ति के साधनों में गैरबराबरी भी दलितों के शोषण का आधार है। दलित चिंतकों का मानना है कि सम्पत्ति के साधनों में बराबर की हिस्सेदारी दलितों की उन्नत्ति में सहायक होगी। माना जाता है कि आधुनिक युग में वैश्वीकरण तथा उदारीकरण ने दलितों के लिए अवसर उपलब्ध करवाएं हैं लेकिन उनकी स्थिति को देखकर इस भ्रम का जल्द ही पर्दाफाश हो जाता है। सम्पत्ति के साधनों में दलितों की हिस्सेदारी के लिए उनके लिए अलग से नीतियां बनाने की जरुरत है।

दलित आलोचना ने हिंदी में दलित साहित्य को समझने की एक अलग दृष्टि प्रदान की है। दलित साहित्य की आलोचना का अर्थ है दलित समाज की आलोचना। दलितों के जीवन तथा सामाजिक स्थिति को जाने बिना दलित साहित्य की आलोचना संभव नहीं है। दलित आलोचना पाठीय आलोचना नहीं है जिसमें परम्परागत पद्धतियों के आधार पर पाठ का मूल्यांकन कर दिया जाए। पारंपरिक मूल्यों के अलावा समाज तथा साहित्य की समझ के माध्यम से ही दलित साहित्य की आलोचना संभव है। दलित साहित्य का स्वरूप अन्य साहित्य से भिन्न है अतः दलित आलोचना के स्वरूप में भी भिन्नता अनिवार्य है। दलित आलोचना में कर्मकाण्ड, अंधविश्वास, पौराणिक मान्यताओं आदि के विरोध का साहस होना चाहिए। दलितों का मानना है कि दलित आलोचक ही दलित साहित्य की सही आलोचना कर सकता है क्योंकि रचनाकार और आलोचक का जीवन सत्य वहां एक जैसा होता है।

3.3 आदिवासी विमर्श

आदिवासी शब्द के लिए बनवासी, जनजाति, आदिम जाति, आदिमवासी आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है। संविधान द्वारा आदिवासियों को अनुसूचित जाति का दर्जा दिया गया है, "आदिवासी शब्द उन समुदायों के लिए प्रयुक्त किया जाता है जिन्हें भारत के राष्ट्रपति ने संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत अनुसूचित जनजातियों के तौर पर निर्दिष्ट किया है। दरअसल यह एक प्रशासनिक शब्द है जिससे किसी विशेष क्षेत्रीयता का संकेत मिलता है। इसका उद्देश्य किसी जनसमुदाय की विशिष्ट आनुवांशिक स्थिति से ज्यादा उसकी सामाजिक - आर्थिक स्थिति का परिचय देना है।"[1] आदिवासियों की पहचान क्या है, वे कौन हैं, यह उनके इतिहास नाम से जुड़ सवाल है। रमणिका गुप्ता ने 'बनवासी' तथा 'जनजाति' शब्द पर आपत्ति जाहिर की है "आदिवासियों की कोई जाति नहीं होती, तो वे 'जनजाति' कैसे बना दिए गए ? उन्हें 'कबीला' कहा जा सकता है लेकिन जाति नहीं। हमारे देश की धर्म और संप्रदायवादी शक्तियां लम्बे अरसे से वनवासी के रूप में उनका नया नामकरण कर और घर वापसी का नारा देकर, उनकी पहचान

[1] रमणिका गुप्ता (सम्पा.), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 29

मिटाने के लिए ही षडयन्त्र नहीं रच रही बल्कि धर्म के नाम पर आदिवासी को आदिवासी से लड़ाकर उनकी संस्कृति को अपने में समायोजित करने की चाल भी चल रही है।..... 'वनवासी' शब्द केवल उनके मूल एवं उदगम को ही चुनौती देता है, बल्कि उनके जंगली, पिछड़ा, असभ्य होने की ध्वनि भी देता है और उनके मूल निवासी होने के दावे को डिफ्यूज करता है।"[1]

3.3.1 अर्थ एवं परिभाषा

वी.एन. सिंह एवं जनमेजय सिंह ने आदिवासी जातियों को प्रागैतिहासिक तथा आदिम जातियों से संबंधित मानते हैं। जिनमें संथाल, भील आदि शामिल हैं। आदिवासी राष्ट्र को परिभाषित करते हुए यू.एन.ओ. के घोषणापत्र में लिखा गया है, "आदिवासी राष्ट्र का तात्पर्य उन लोगों के वंशजों से है जो किसी देश की वर्तमान भूमि के पूरे या कुछ भाग पर विश्व के अन्य भागों की किसी भिन्न संस्कृति अथवा नस्ल के लोगों द्वारा पराजित कर दिए जाने या उनके साथ किसी समझौते के तहत या अन्य किसी तरह से वर्चस्वहीन अथवा औपनिवेशिक स्थिति में ढकेल दिए जाने से पहले से ही, वहां रह रहे थे।"[2] शास्त्रों में आदिवासियों को बड़े - बड़े दांतों, सींगों, पूंछ वाले कहा गया है। आदिवासियों को सभ्यता - संस्कृति से बेदखल किया गया, लेकिन उन्होंने अपनी सांस्कृतिक विरासत को बचाए रखा। जंगल में अपनी संस्कृति के साथ वे आत्मसम्मान के साथ जीते लेकिन उनकी सांस्कृतिक - सामाजिक संरचना पर खतरा मंडराने लगा, "महाभारत काल या उससे पहले भी आर्यों ने उन्हें सभ्यता से बहिष्कृत कर जंगलों में ढेल दिया था, लेकिन अंग्रेजों के आने के बाद दखलंदाजी का ढंग बदल गया,..... दरअसल आदिवासियों के पास जंगल और जमीन न हो तो उस आदिवासी की पहचान ही खत्म हो जाती है। अंग्रेजों ने और आजादी के बाद सरकारों ने आदिवासियों को उनके जल, जंगल, जमीन से बेदखल ही किया है।..... पहले वे जंगल के राजा थे अब वे लकड़ी - चोर में बदल गए।"[3]

---

[1] देवेन्द्र चौबे, दीपक कुमार (सम्पा.), हाशिये का वृतांत, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 353

[2] वही, पृष्ठ - 353

[3] वही, पृष्ठ - 355

3.3.2 आदिवासी आंदोलनः सामान्य परिचय

व्यवस्था द्वारा पूंजीवादी गठजोड़ से आदिवासियों के प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा करके उन्हें विस्थापित किया जा रहा है। आदिवासी क्षेत्रों में कोयला, यूरेनियम, बाक्साइट, मैंगनिज, माइका, तांबा, लोहा पाए जाते हैं जिनका अंधाधुंध दोहन बहुराष्ट्रीय कम्पनियां कर रही हैं। सत्ता से वंचित आदिवासियों ने संघर्ष का रास्ता अपनाया। इसी संघर्ष से आदिवासी साहित्य ने खुराक ग्रहण की है। छत्तीसगढ़, बिहार, झारखण्ड, राजस्थान, मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश, केरल, अंडमान, पूर्वोत्तर आदि इलाकों में आदिवासियों ने अंग्रेजों, महाजनों, जमींदारों, देशी शासकों, के विरुद्ध संघर्ष किया।

1855 में आदिवासियों ने अंग्रेजों, महाजनों, जमींदारों के विरुद्ध सिद्धू - कान्हू ने विद्रोह किया। 20 हजार आदिवासियों के साथ सिद्धू - कान्हू ने राजभवन पर हमला कर उसे कब्जा लिया, सिद्धू को फांसी की सज्जा हुई। 10 हजार आदिवासियों के मारे जाने पर भी विद्रोह जारी रहा।

लगान तथा जमीन की बेदखली के खिलाफ संथाल परगना तथा छोटा नागपुर में बिरसा मुण्डा और मुण्डा सरदारों ने विद्रोह किया। बिरसा ने घूम - घूमकर आदिवासियों को क्रांति के लिए संगठित किया, 1900 में बिरसा शहीद हुआ। 1930 में सिंहभूम में हरिबाबा ने आन्दोलन किया, "मीर कासिम के खिलाफ आदिवासी वीरांगना 'सिनगी दई' ने औरतों की सेना लेकर युद्ध किया था। आंध्रप्रदेश में श्री सीताराम राजू के नेतृत्व में आदिवासी समाज ने अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार - बंद गुरिल्ला युद्ध चलाया।"[1] राजस्थान के आदिवासी भीलों तथा गाड़िया लुहारों ने मुगलों और अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई लड़ी।

आदिवासी संघर्ष में महिलाओं की भागीदारी उनके विद्रोह की विशेषता है। रोहतासगढ़ किले की लड़ाई में सिगनी दई तथा केइली दई लड़ीं, सिद्धू - कान्हू की बहनें झानी व फूलों लड़ीं।

[1] रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 7

बिरसा मुण्डा के 'उलगुलान' में नागी, थीगी, चंपी, सामी, बनकन तथा मुंडा की पत्नी आदि महिलाएं शामिल रहीं। शोषण से मुक्ति के लिए संघर्ष के जज्बे को आदिवासियों ने बचाए रखा।

खनिजों के दोहन के लिए आदिवासियों पर रोज हमले हो रहे हैं। वे किसी से बराबरी की मांग नहीं करते बल्कि अपने संसाधनों को बचाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इन संसाधनों में केवल उनकी जीविका ही नहीं है बल्कि उनकी संस्कृति, सभ्यता भी है। सरकारी तंत्र तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों की लूट के विरुद्ध वे संघर्षरत्त हैं।

3.3.3 आदिवासी साहित्य एवं आलोचना

मनुष्य की अभिव्यक्ति को साहित्यिक रूप देने में आदिवासी समाज को लम्बे समय तक इंतजार करना पड़ा। मुख्यधारा का साहित्य उन्हें उपदेश देता रहा तथा साहित्य की चारदीवारी में उन्हें घुसने नहीं दिया गया। जंगलों में भटकते, विस्थापित प्रकृति मित्रों को अभिजात साहित्य अनदेखा करता रहा। सुर, ताल, लय के धनी उनके मानवतावादी स्वर की पहचान नहीं हो पाई।

आदिवासी परम्परा, संस्कृति तथा इतिहास की गौरवगाथा उनके लोकगीतों, लोककथाओं, किवंदतियों तथा मिथकों में जिंदा रही। लोक के इस स्वर को पहचान कर आदिवासी साहित्यकारों ने इसे अपने साहित्य में प्रकट करना शुरु किया। आदिवासी साहित्य में आदिवासियों की भाषा, संस्कृति, संवेदना आदि समग्रता में अभिव्यक्त होकर विमर्श का रूप ग्रहण कर रहे हैं। जंगल तथा पर्यावरण के प्रति चिंता ने आदिवासी समाज को मुख्यधारा में स्थापित करने का काम किया है। बहुत देर में ही सही पर आदिवासी साहित्य की बदौलत आदिवासियों को इंसान के रूप में देखा जाने लगा है। आदिवासी साहित्य में उनका जीवन सजीव रूप में सामने आ रहा है। जीवन के अनेक पहलुओं को खोलता आदिवासी साहित्य उल्लास तथा संघर्ष का साहित्य है। ऊंच - नीच, भेदभाव तथा छल - कपट से रहित उनका साहित्य न्याय का पक्षधर है। रमणिका गुप्ता आदिवासी साहित्य को अन्याय का विरोधी तथा न्याय का पक्षधर मानते

हुए कहती हैं, "आदिवासी साहित्य का महत्त्व इसलिए भी है कि यह निरा कल्पना का साहित्य न होकर जीवन का साहित्य है। वह अन्याय का विरोधी और सामाजिक न्याय का पक्षधर है।"[1]

आदिवासी साहित्य की शुरुआत पत्रिकाओं से हुई मानी जा सकती है। 'अरावली उद्घोष', 'युद्धरत आम आदमी' जैसी पत्रिकाएं आदिवासी जीवन को स्वर देती हुई उनके जीवन, संघर्ष तथा संस्कृति को केंद्र में रखकर चलती हैं। इनके अलावा आदिवासी जीवन पर विशेषांक निकालने वाली पत्रिकाएं 'दस्तक', 'समकालीन जनमत', 'दोआबा', आदि हैं।

आदिवासी साहित्य के प्रारम्भिक साहित्यकार के रूप में आदिवासी कविता बाबा नागार्जुन का नाम लिया जा सकता है। जिन्होंने आदिवासी जीवन की समस्याओं और चुनौतियों को समझते हुए उनकी विडम्बनाओं पर कविताएं लिखी।

साहित्यकारों में देवेंद्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये', वृंदावनलाल वर्मा का 'कचनार', फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आंचल', रांगेय राघव का 'कब तक पुकारुं', नागार्जुन का 'वरुण के बेटे', योगेंद्रनाथ सिन्हा का 'हो', राजेन्द्र अवस्थी का 'जंगल के फूल', वीरेन्द्र जैन का 'पार' प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष आदिवासी जीवन पर लिखे गए उपन्यास हैं।

आदिवासी विमर्श के उभरने के साथ ही आदिवासी जीवन पर तेजी से लेखन होने लगा। आदिवासियों की जीवनशैली, संस्कृति तथा संघर्ष को आधार बनाकर रचना करने वाले समकालीन आदिवासी रचनाकारों में निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजूर, अनुज लुगुन, भुजंग मेश्राम, शंकरलाल मीणा, हरीराम मीणा, डा. बाहरु सोरवणे,महादेव टोप्पो, रामदयाल मुंडा, सरिता सिंह बड़ाइक, सहदेव सोरी, संजीव, तेजिंदर, प्रकाश मिश्र, रणेन्द्र, मनमोहन पाठक, रोज केरकेट्टा आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

पी. शंकर (तेलुगु) की हिंदी में अनुदित पुस्तक 'यह जंगल हमारा है' तथा सतनाम (पंजाबी) की पुस्तक 'जंगलनामा' आदिवासियों के जीवन पर आधारित प्रमुख पुस्तकें हैं। हरिराम मीणा की पुस्तक 'धूणी तपे तीर' राजस्थान के भीलों के जीवन पर आधारित महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

[1] रमेश सम्भाजी कुरे (सम्पा.), आदिवासी साहित्यः विविध आयाम, विकास प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ - 33

पुन्नी सिंह का उपन्यास 'सहराना' मध्यप्रदेश तथा राजस्थान के पिछड़े हुए आदिवासियों के जीवन पर आधारित रचना है। राजस्थान की ही आदिवासी जाति 'गाड़िया लुहार' की कला, संघर्ष तथा संस्कृति के रंग में रंगा मणि मधुकर का उपन्यास 'पिंजरे में पन्ना' है।

आधुनिकता से दूर आदिवासियों के जीवन पर आधारित राकेश वत्स का 'जंगल के आस - पास' उपन्यास है। इस उपन्यास में पूंजीपतियों, पुलिस तथा नेताओं से आतंकित इलाके दमकड़ी की कहानी है। आदिवासियों के जीवन में धर्मिक अंधविश्वास, आडम्बरों आदि पर केन्द्रित 'महर ठाकुरों का गांव' बटरोही का एक सशक्त उपन्यास है। आदिवासियों के जीवन की अभावग्रस्तता को व्यक्त करता 'वनतरी' सुरेशचंद्र श्रीवास्तव का चरित्र प्रधान उपन्यास है।

श्री प्रकाश मिश्र का उपन्यास 'जहां बांस फूलते हैं' लुशेइया आदिवासियों के जीवन यथार्थ को तथ्यपरकता से पेश करता है। भगवानदास मोरवाल का 'काला पहाड़' राजनीतिक स्वार्थों के शिकार मेव आदिवासियों के दर्द को बयां करता है। 'अल्मा कबूतरी' मैत्रेयी पुष्पा का बुंदेलखंड की कबूतरा नामक आदिवासी जाति का उपन्यास है।

आदिवासी जीवन पर हबीब कैफी का 'गमना' आदिवासियों के गरसिया समुदाय पर लिखित एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। पिछड़ेपन के शिकार गरसिया समुदाय के लोगों के सामाजिक तथा मानवीय मूल्यों को उपन्यास उभारता है। इस उपन्यास में आदिवासी और गैरआदिवासी समुदाय का संपर्क और उसमें आदिवासियों के शोषण को स्पष्टता से व्यक्त किया गया है।

रणेन्द्र का आदिवासी जीवन पर आधारित उपन्यास 'ग्लोबल गांव के देवता' कमजोर आदिवासियों की आवाज बुलंद करता है। हमेशा से दबाए गए आदिवासी समाज की पीड़ा एवं त्रास को रणेन्द्र ने बखूबी समझा है तथा भूमण्डलीकरण के दौर में उन पर बढ़ते हमलों के बारे में चिंता व्यक्त की है। उपन्यास के केन्द्र में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के साथ चल रहा आदिवासियों का संघर्ष है। भूमण्डलीकरण का यह देवता बहुत ताकतवर है और सभी संस्थाएं इसके साथ हैं। आदिवासी समाज इसके सामने कमजोर पड़ रहा है।

'खुले गगन के लाल सितारे' मधु कांकरिया का आदिवासियों - नक्सलवादियों के जीवन पर लिखा गया उपन्यास है। उपन्यास में अंतर कथाओं के माध्यम से धार्मिक रुढ़ियों को उजागर किया गया है। उपन्यास में खुले विचारों के साथ व्यवस्था से लड़ने वाले युवाओं को सितारों के रूप में चित्रित किया गया है। पीटर पॉल एका द्वारा रचित उपन्यास 'जंगल के गीत' में आदिवासियों के नायक विरसा मुंडा की अगुवाई में हुए उलगुलान की कहानी है। बिरसा पूरे गांव को विद्रोह के लिए तैयार करता है तथा महिलाओं को भी बंदूक उठाने के लिए प्रेरित करता है। 'सपनों वाली वह दुबली लड़की' शंकर लाल मीणा का आदिवासी युवक - युवती के प्रेम पर आधारित उपन्यास है जिसमें एक पढ़े - लिखे युवक को एक आदिवासी लड़की जीवन के हर मोड़ पर प्रेरणा तथा दिशा देती है।

रामधन लाल मीणा की कहानी 'अप्रत्याशित' व्यवस्था के आगे निरीह तथा हारते आदिवासियों की कहानी है। दिनानाथ मनोहर की कहानियां 'स्थित्यन्तर' तथा 'जंगल शांत हुआ' नई नीतियों के कारण शोषित आदिवासियों की विवशता तथा नई - पुरानी संस्कृति में तालमेल न बैठा पाने लेकिन बदलने की मजबूरी को व्यक्त करती कहानियां हैं। वाल्टर भेंगरा की कहानी 'खखरा का जतरु' आदिवासियों के निश्चल प्रेम तथा जीवन - मूल्यों की कहानी है। जतरु "पढ़ने - लिखने के बाद भी अपनी जमीन और समाज को नहीं भूलता और अपनी बचपन की प्रेमिका अनपढ़ एतबा से शादी कर, अपने विकास के सब प्रलोभन छोड़कर गांव और समाज के विकास के लिए गांव लौट आता है।"[1]

पीटर पॉल एका की 'राजकुमारों के देश में' विस्थापित आदिवासियों के दर्द को व्यक्त करती कहानी है। कृष्णचंद टुड्डू की 'एक वित्ता जमीन' रोज केरकट्टा की 'भंवर' में आदिवासी लड़कियों के अधिकार प्राप्ति के लिए किए गए विद्रोह की कहानियां हैं। आदिवासी जीवन पर लिखने वाले अन्य कहानीकारों में विपिन बिहारी, परदेशीराम वर्मा, भावसिंह हिरमानी, कैलाशचंद आदि उभरते हुए कहानीकार हैं।

[1] रमणिका गुप्ता (सम्पा.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 14

हिंदी कविता ने आदिवासी साहित्य को पैनी धार दी है। कविता की बदौलत आदिवासियों को इन्सान की नजर से देखने की कोशिश हुई है। वाहरु सोनवणे अपनी कविता में कहते हैं, "हम स्टेज पर गए ही नहीं/ और हमें बुलाया भी नहीं/ उंगली के इशोरे से/ हमारी जगह हमें दिखाई गई।"[1] आदिवासी कसमसाहट इस कविता में व्यक्त हुई है। आदिवासी महिला 'सिनगी दई' को प्रेरणास्त्रोत मानकर ग्रेस कुजूर लिखती हैं, "और अगर अब भी तुम्हारे हाथों की/ अंगुलियां थरथराई तो जान लो/ मैं बनूंगी एक बार और/ सिनगी दई, बांधूगी फेटा/ और कसेगी फिर से/ बेतरा की गांठ।"[2] बिरसा, सिद्धू - कान्हू, मकी, गोविंद गिरी से प्रेरणा लेकर शोषण को पहचान कर उसका विरोध कर रहा है जिसकी अभिव्यक्ति अनुज लुगुन की कविता में हुई है, "इसी जंग के बीच स्वत्व के लिए/ लहरा ठी थी - सर..... स... स... र...।।।/ सिद्धू - कान्हू और तिलका की तनी धनुष से टूटा तीर/ इनकी मूर्तियों तले चौहारे पर उठती है।"[3] विनोद कुमार शुक्ल की कविता, "जो प्रकृति के सबसे निकट है/ जंगल उनका है/ आदिवासी जंगल में सबसे निकट है/ इसलिए जंगल उन्हीं का है/ अब उनके बेदखल होने का समय है।"[4]

साहित्य की प्रचूरता के बावजूद आदिवासी आलोचना मुख्य रूप से पत्रिकाओं में लेखों के रूप में लिखी जा रही है। इधर कुछ संपादित तथा मौलिक शोधपरक पुस्तकें आदिवासी साहित्य की आलोचना की कमी पूरी कर रही हैं।

रमेशचंद मीणा 'आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और दस्तक' पुस्तक में आदिवासियों पर मौलिक शोध के साथ उनकी समस्याओं तथा मुद्दों को उठाते हैं। दलित तथा आदिवासी विमर्श का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लेखक ने इनके मुद्दों को अलगाया है। आदिवासियों पर भूमण्डलीकरण की मार से उनकी बिगड़ती स्थिति तथा इससे उपजे संघर्ष को लेखक ने बखूबी समझा है। आदिवासियों के जीवन तथा उनके संघर्ष पर आधारित साहित्य की पड़ताल इस पुस्तक में की गई है, "बिरसामुंडा को चर्चित, प्रचारित और प्रसारित करने में महाश्वेता देवी के 'जंगल के

---

[1] रमणिका गुप्ता (सम्पा.), आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 5

[2] हरिराम मीणा (सम्पा.), समकालीन आदिवासी कविता, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 22

[3] कुमार विरेन्द्र, आदिवासी विमर्श और हिंदी साहित्य, पेसिफिक पब्लिकेशंस, दिल्ली, पृष्ठ - 208

[4] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 8

दावेदार' उपन्यास ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।"[1] आदिवासी चिंतक महाश्वेता देवी का जिक्र लेखक ने किया है

रमेश सम्भाजी कुरे के सम्पादन में 'आदिवासी साहित्यः विविध आयाम' पुस्तक में आदिवासी जीवन पर केन्द्रित रचनाओं के उद्भव, विकास एवं उनकी समकालीन स्थिति का जायजा लिया गया है। इस पुस्तक में आदिवासी उपन्यासों की रचना के संबंध में लेखक कहता है, "हिंदी के आदिवासी उपन्यास का उद्देश्य है स्थिर स्थान पर गतिमान समय में जीते हुए आदिवासियों के समग्र पहलुओं को उद्घाटित करना।"[2] पुस्तक में उपन्यास के अलावा आदिवासी कहानी, कविता, नाटक तथा आदिवासी साहित्यकारों की समीक्षा भी है।

ब्रह्मदेव शर्मा की पुस्तक 'आदिवासी विकासः एक सैद्धांतिक परिचय' में पिछड़े हुए आदिवासी समाज की समस्याओं को उठाया गया है। लेखक ने असमान विकास पर आधारित अर्थव्यवस्था पर प्रश्नचिन्ह लगाएं है। पुस्तक में विकास के नाम पर हुए आधुनिकीकरण से तालमेल न बैठा पाने वाले आदिवासियों की छटपटाहट को रेखांकित किया गया है। उत्तर - पश्चिम क्षेत्र की बहुपत्नी प्रथा पर लेखक ने विस्तार से चर्चा की है। आदिवासियों की समस्याओं को पर्यावरण तथा उनकी संस्कृति से जोड़कर देखा है।

रमणिका गुप्ता की पुस्तक 'आदिवासी कौन', तथा उन्हीं द्वारा संपादित 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' आदिवासी जीवन पर केन्द्रित महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। पहली पुस्तक में जहां आदिवासी जीवन की जटिलताएं तथा उनका जुझारु रूप चित्रित हुआ है वहीं दूसरी पुस्तक में आदिवासी जीवन की साहित्य में अभिव्यक्ति पर गौर किया है। 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' पुस्तक में लेखिका ने आदिवासी जीवन पर केन्द्रित साहित्य की विभिन्न विधाओं कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि का संकलन तथा समीक्षा की है।

दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे द्वारा सम्पादित पुस्तक 'हाशिये का वृतांत' हाशिए पर धकेले गए समुदायों की स्थिति पर केन्द्रित पुस्तक है। हाशिए के इन समुदायों में एक समुदाय

[1] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 27

[2] रमेश सम्भाजी कुरे (सम्पा.), आदिवासी साहित्यः विविध आयाम, विकास प्रकाशन, कानपुर, पृष्ठ - 88

आदिवासियों का है जो अपने जल, जंगल तथा जमीन के लिए संघर्षरत्त है। आदिवासी समुदाय की दशा तथा दिशा लेखकों ने समझी है।

3.3.4 आदिवासी साहित्य एवं आलोचना के प्रमुख मुद्दे

दलित तथा स्त्री विमर्श की तरह पितृसत्ता तथा लैंगिक समानता या सामाजिक समानता आदिवासियों का मुद्दा नहीं है, ना ही वे अपनी पहचान को बचाए रखने के लिए लड़ रहे। उनका संघर्ष अपने प्राकृतिक संसाधनों को बचाने के लिए है। आज मीडिया तथा सरकारी तंत्र का तामझाम आदिवासी संस्कृति पर ही केन्द्रित होकर चर्चा कर रहा है। आदिवासियों की सांस्कृतिक पहचान पर ही पूरा जोर लगाया जा रहा है, लेकिन सोचने की बात है कि उनके जल, जंगल और जमीन को नष्ट करके क्या उनके जीवन तथा संस्कृति को बचाया जा सकता है।

लम्बे समय तक अंधेरे में रहने वाले आदिवासी समाज में सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा रचनाकारों के प्रवेश से चेतना जगी है। उनका परिचय नई - नई विचारधाराओं से होने लगा है। जिनके परिप्रेक्ष्य में वे अपने इतिहास तथा परिस्थितियों को समझने लगे हैं। आदिवासियों में अन्याय तथा भेदभाव के खिलाफ अपने हकों को पाने का विद्रोह जगा है, वे अस्तित्व की लड़ाई लड़ने लगे हैं। आदिवासी समाज अपने जल, जंगल और जमीन को बचाने की लड़ाई लड़ रहा है। जल, जंगल और जमीन उनके जीवन का आधार है, इन्हीं से उनका जीवन चलता है। जंगल के बचे रहने पर ही आदिवासियों का अस्तित्व बचा रह सकता है। आदिवासियों के पूर्वजों ने जंगल को सींचा है और जंगल ने उनको जीवन दिया है।

आज के दौर में विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करके आदिवासियों के जीवन को तबाह किया जा रहा है। बड़े - बड़े बांध बनाकर उनके गांव के गांव उजाड़े जा रहे हैं। जंगलों, पहाड़ों को नष्ट करके उनका आजीविका के साधन छीने जा रहे हैं। पूंजीवादी व्यवस्था में मुनाफे के आगे आदिवासियों के जीवन का सवाल गौण हो चुका है। उनकी स्थिति की तरफ किसी का ध्यान नहीं है। इसी की चिंता में रमेशचंद मीणा कहते हैं, "बस्तर में कच्चे लोहे का दोहन

1954 में होने लगता है। पिछली आधी सदी गुजर जाने पर भी इन लोह दोहन क्षेत्रों में जाकर यह देखने का प्रयास नहीं किया गया कि वहां क्या स्थिति हुई है ?"[1]

व्यावसायिक हितों के लिए विकास के नाम पर आदिवासियों की जमीन छीनकर उन्हें बेदखल किया जा रहा है। रमणिका गुप्ता इस बारे में चिंतित हैं, "आजादी के बाद देश के विकास का यह कार्यक्रम आदिवासी की कीमत पर हुआ है। विकास की कीमत वह अपने विस्थापन से अदा करता है। उसके खेत खदानों में बदल गए और जंगल लकड़ी की टालों में समा गए या कुर्सियों, मेजों और फर्नीचर में बदल गए। गाछ खूंटे और बल्ले बन गए और बन गई रेल की पटरियां।"[2]

पूंजीवादी भूमण्डलीकरण के इस दौर में आदिवासियों का विस्थापन उनकी जीवनशैली को पूर्णतः बदल रहा है। व्यवस्था द्वारा सुनहरे सपने दिखाकर आदिवासियों की जमीन उनसे छीनी जा रही है। विकास के पहाड़ के नीचे आदिवासी का अस्तित्व दब रहा है। उनकी जमीन, उनकी संस्कृति सब चीजों से उन्हें विस्थापित होना पड़ रहा है, "आदिवासियों के लिए बड़ा मुद्दा विस्थापन का रहा है। देश के विकास की जब भी बात होती है तब आदिवासी अपने आप सामने आ जाते हैं। देश के विकास का रास्ता आदिवासी की जमीन से होकर ही गुजरता है। बांध, चतुरभुज कॉरिडोर और औद्योगिक परियोजनाओं को मूर्त रूप देना हो तो उजड़ना आदिवासी को ही पड़ता है, अपनी जमीन से विस्थापित आदिवासी ही होता है।"[3] यह तथाकथित विकास आदिवासी के लिए विनाश का पर्याय बन रहा है, "एक अध्ययन के अनुसार पिछले दस सालों में उड़ीसा, झारखण्ड, आंध्रप्रदेश और छत्तीसगढ़ सरकार ने एक करोड़ एकड़ से अधिक जमीन अधिग्रहीत की जिससे सोलह लाख लोग विकास के नाम पर विस्थापित हुए।"[4] आज के दिन आदिवासी अपने जीवन को बचाने के लिए जद्दोजहद कर रहा है।

---

[1] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 54

[2] रमणिका गुप्ता (सम्पा.), आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 11

[3] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 13

[4] वही, पृष्ठ - 45

आदिवासी समाज में स्त्रियां पूरी तरह से स्वतंत्र हैं। उन पर किसी तरह की रोक - टोक या जोर - जबरदस्ती नहीं है। न वहां दहेज का लालच है ओर न ही पर्दे की घुटन। उन्हें अपना जीवनसाथी चुनने तथा पुनर्विवाह करने की पूरी आजादी है। लेकिन आदिवासी जंगलों और जमीन को लूटने वाले महाजन तथा ठेकेदारों से आदिवासी महिलाएं भी बच नहीं पाती। तथाकथित शिक्षित समाज शिक्षा, धर्म, धन आदि के बल पर आदिवासी समाज को छलता है। आदिवासी लड़कियों को तरह - तरह के प्रलोभनों में फंसाकर उनकी अस्मिता के साथ खेला जाता है। भोग की वस्तु समझकर परोसी गई प्रताड़ित आदिवासी स्त्रियों की पीड़ा को निर्मला पुतुल ने अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है, "आदिवासी औरत को लेकर कथित सभ्य समाज पूर्वाग्रह से ग्रस्त रहा है। उनकी रचनाओं में आदिवासी महिला कभी भी यथार्थ रूप में चित्रित ही नहीं हो सकी है। जब निर्मला पुतुल अपनी कविता में आदिवासी महिला के चित्र खड़े करती है तब सभ्य समाज सिर्फ चौंकता है।"[1]

आदिवासियों की संस्कृति पर्यावरण केन्द्रित संस्कृति है। उनकी संस्कृति की विशिष्टता उसका प्रकृति केन्द्रित होना ही है, "उनका सारा जीवन, संस्कृति, विश्वास एवं रीति - रिवाज पर्यावरण से इस तरह जुड़े होते हैं कि उन्हें अलग से देखा समझा ही नहीं जा सकता। उनका धर्म पर्यावरण - केन्द्रित है, संस्कृति विशिष्ट है, विश्वास एवं आस्थाएं पर्यावरण के इर्द - गिर्द घूमती हैं।"[2]

रहन - सहन को लेकर आदिवासी मैदानी इलाकों की तुलना में पूर्णतः भिन्न हैं। कपड़े न पहनना या कम कपड़े पहनना आदिवासियों की संस्कृति और रहन - सहन में शामिल है। "वहां पर यदि किसी बालिका को अपने वक्षस्थल ढंकने के लिए वस्त्र पहनने के लिए कहा जाए तो वह शरमाती है और उसे अटपटा लगता है। उसके परिजन परिहास में कहने लगते हैं कि ये तो खालपटी (मैदानी इलाका) की हो गई।"[3]

---

[1] रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, पृष्ठ - 67

[2] डा. ब्रह्मदेव शर्मा, आदिवासी विकासः एक सैद्धांतिक विवेचन, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, बानगंगा, भूमिका से

[3] वही,पृष्ठ - 5

रीति - रिवाजों तथा सामाजिक मान्यताओं के संदर्भ में आदिवासी बहुत रूढ़ नहीं है। विवाह आदि के मामले में वे बहुत जनतांत्रिक हैं, "आदिवासी समाज में यदि कोई लड़का और लड़की परस्पर वचन के आधार पर पति - पत्नी के रूप में साथ रहना शुरु कर दें तो सामाजिक दृष्टि से उनका विवाह मान्य हो जाता है। यहां परस्पर वचन के लिए साक्ष्य आवश्यक नहीं है। औपचारिक विवाह की रस्में बाद को सुविधा के अनुसार कभी भी पूरी की जा सकती है। इस संबंध में कोई सामाजिक ग्रंथियां नहीं हैं।"[1] आदिवासी क्षेत्र में जब से खनिजों के दोहन का विरोध तथा जंगल को बचाने का विद्रोह शुरु हुआ है तब से उनकी संस्कृति की तरफ ध्यान जाने लगा है। कला तथा संस्कृति की आवाज को दबाकर उसे मनोरंजन तथा सजावट के साधन के रूप में पेश किया जा रहा है।

कहा जा सकता है कि 1980 के बाद उभरे स्त्री, दलित एवं आदिवासी विमर्शों की जड़ में जाकर इनके सरोकारों को आलोचना ने गहराई से समझा है। पितृसत्ता तथा ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर चोट करते हुए आदिवासी संस्कृति के पक्ष में आलोचना ने एक हथियार का काम किया है। आलोचना ने जहां स्त्री एवं दलित के लिए समान अधिकारों और अलग भाषा की मांग की वहीं आदिवासियों के संघर्ष से प्रेरणा लेकर देशी - विदेशी पूंजीपतियों का विरोध किया है।

[1] डा. ब्रह्मदेव शर्मा, आदिवासी विकासः एक सैद्धांतिक विवेचन, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, बानगंगा, पृष्ठ - 13

चौथा अध्याय

आपातकालोत्तर आलोचना: किसान, बाजारवाद, पर्यावरण एवं साम्प्रदायिकता संबंधी विमर्श

1980 के बाद तीव्र गति से हुए राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक बदलावों ने किसान को बेबस एवं असहाय बनाया, बाजार का विस्तार किया, पर्यावरण का ह्रास किया और साम्प्रदायिकता को बढ़ाया। बाजार के प्रभाव तथा विरोध में सक्रिय आलोचना ने किसानों के संकटों, संघर्षों को ऊपरी तौर पर रेखांकित किया। आलोचना ने पर्यावरण ह्रास के प्रति चिंता जाहिर की तथा साम्प्रदायिक शक्तियों को सीधे - सीधे फटकारा। आलोचना ने किसान के प्रति सहानुभूति प्रकट की, पर्यावरण को बचाने के लिए जागरुकता फैलाई, तो बाजारवाद एवं साम्प्रदायिकता के बर्बर तन्त्र की शिनाख्त की है।

4.1 किसान विमर्श

1980 के बाद आई किसान विरोधी नीतियों ने लाखों किसानों को आत्महत्या करने के लिए मजबूर किया। अत्यधिक कर्ज का बोझ, बढ़ती महंगाई, भूमि अधिग्रहण तथा विस्थापन ने किसानों के लिए संकट पैदा किया। इस संकट से जूझते किसानों ने समय - समय पर अनेक आंदोलन किए, जो आज भी अलग - अलग रूपों में जारी हैं। किसानों के संकट तथा संघर्षों ने साहित्य में किसान विमर्श का आकार लिया।

4.1.1 किसान आंदोलन: सामान्य परिचय

किसान का इतिहास संघर्ष तथा प्रतिरोध का इतिहास रहा है। स्वतंत्रता से पूर्व किसानों ने अंग्रेजों, महाजनों, सूदखोरों, जमींदारों के विरुद्ध लड़ाइयां लड़ीं। 1830 - 31 में मैसूर के किसानों ने एक सफल विद्रोह किया, "1836 में पहला मोपला विद्रोह हुआ। इसके बाद के 18 वर्षों में

मोपलाओं के कुल 22 विद्रोह हुए।"[1] दक्षिण मालाबार के इर्नाडु और वल्लनाडु ताल्लुकों में ये विद्रोह हुए।

1855 - 56 में संथाल आदिवासी किसानों ने साम्राज्यवाद तथा महाजनों से मुक्ति के लिए संगठित, सशस्त्र तथा व्यापक आन्दोलन चलाया, "इससे पहले कि विद्रोह को पूरे तौर से दबाया जा सका, 30 से 50 हजार विद्रोहियों में से 15 से लेकर 25 हजार तक को कत्ल कर दिया गया। जुलाई और अगस्त के दिनों में राजमहल की पहाड़ियां खून से नहलाई गई।"[2] इस संघर्ष में हजारों किसान मारे गए।

1857 में अवध तथा बिहार के किसानों ने अंग्रजों के खिलाफ विद्रोह किया। बंगाल के काश्तकारों को अंग्रेजी सरकार द्वारा नील की खेती करने के लिए मजबूर करने पर 1859 में बंगाल के किसानों ने विष्णु विश्वास तथा दिगम्बर विश्वास के नेतृत्व में विद्रोह किया तथा नील की खेती करने से इन्कार किया। यह आन्दोलन 1860 तक पाबना, ढाका, खुलना, दीनाजपुर आदि क्षेत्रों में फैल गया, परिणामस्वरूप 1860 तक नील के सभी कारखाने बंद हो गए। 1874 - 75 में महाराष्ट्र का दक्कन विद्रोह तथा 1879 - 80 में फड़के आन्दोलन हुआ।

19वीं सदी में चम्पारण के गौरे बागान मालिकों ने किसानों से एक समझौता किया, जिसमें, "किसानों को एक बीघा खेती के लिए तीन कट्टे नील बोना पड़ता था। इसे तिनकठिया प्रथा कहते थे।"[3] पहले विश्वयुद्ध के दौरान नील व्यापार में आई मंदी के कारण गौरे जमींदारों ने किसानों पर आर्थिक बोझ लाद दिया, जिसके विरुद्ध किसानों ने विद्रोह किया। 1918 में गुजरात में लगान वृद्धि के खिलाफ गांधी जी तथा वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में किसानों ने आन्दोलन किया। विजय सिंह पथिक के नेतृत्व में बिजोलिया के किसानों ने 1918 में छियासी प्रकार के लगानों लाटा, कूंता एवं तलवारबंदी आदि से मुक्ति के लिए संघर्ष किया।

---

[1] एल. नटराजन, भारत के किसान विद्रोह (1850 - 1900), स्वर्ण जयंती प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 104

[2] वही, पृष्ठ - 43

[3] रामाज्ञा शशिधर, किसान आन्दोलन की साहित्यिक जमीन, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, पृष्ठ - 14

1920 - 22 में यूपी किसान सभा तथा बाबा रामचन्द्र की रूरे सभा ने मिलकर सामन्ती व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई लड़ी। इसी समय मदारी पासी की अगुवाई में खेतीहर मजदूरों का 'एका' आन्दोलन चला। 17 अक्तूबर 1920 को बाबा रामचन्द्र दास ने 'अवध किसान सभा' के किसानों को बेगार न करने तथा जमीन से बेदखल न होने के लिए तैयार किया, "आन्दोलन के दौरान पुलिस ने कई बार किसानों की भीड़ पर गोलियां चलाई। किसानों ने भी कुछ जगहों पर पुलिस के सिपाहियों, ताल्लुकदारों या जमींदार के आदमियों की हत्याएं की।"[1] आंदोलन के दौरान झूठे इल्जाम में फंसाकर बाबा रामचन्द्र दास को गिरफ्तार कर लिया गया, उनकी रिहायी के लिए 10 सितम्बर को दस हजार किसानों ने जेल को घेर लिया तथा 24 घण्टे के अन्दर ही बाबा रामचन्द्र को रिहा करवाकर ही दम लिया।

किसान आन्दोलन को व्यापकता प्रदान करने में स्वामी सहजानंद सरस्वती का अप्रतिम योगदान है। 1936 में वे अखिल भारतीय किसान कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। जिसमें कांग्रेस, सोशलिस्ट, वामपंथी, कांग्रेस दक्षिणपंथी सभी शामिल हुए, जिन्होंने जमींदारी प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। 1936 से 47 के दौरान स्वामी सहजानंद के नेतृत्व में किसान आन्दोलन उग्र रूप में चला।

1946 में तेभागा में किसानों ने विद्रोह किया। आजादी के बाद भारत में छिटपुट जगहों पर आन्दोलन होते रहे। व्यवस्था के खिलाफ लगातार संघर्ष जारी रहा, जो 1980 - 90 तक शिखर पर पहुंच गया। इस दौर में महाराष्ट्र में शरद जोशी, कर्नाटक में प्रो. एम. डी. नज्जुदास्वामी, पश्चिम उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब में महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व में किसानों के बड़े - बड़े आन्दोलन हुए। किसानों के शोषण, फसलों का न्यूनतम समर्थन मूल्य, बढ़ते कर्ज, खाद - बीज पर मिलने वाली रियायतों में कमी तथा सरकार की किसान विरोधी नीतियां किसान आंदोलन के मुख्य मुद्दे रहे। 1990 के बाद पश्चिम बंगाल में सिंगूर का किसान आन्दोलन, हरियाणा के गोरखपुर, कैथल में भूमि - अधिग्रहण के खिलाफ किसान आन्दोलन हुए। पूरे देश में भूमि अधिग्रहण और सेज के खिलाफ जगह - जगह पर किसानों ने विद्रोह किए।

[1] वीरभारत तलवार, किसान राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्दः1918 - 22, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 97

हरित क्रान्ति की सीमित खुशहाली के दिन जल्द ही लद गए और विश्व बैंक की भूमिका भी बदलने लगी, "जिस विश्व बैंक ने पहले नई टैक्नोलाजी के प्रचार - प्रसार के लिए सभी आवश्यक उपादान उन्नत बीज, रसायनिक खाद, कीटनाशक दवाइयाँ, सिंचाई, बिजली, डीजल, आधुनिक कृषि यन्त्र सरकार द्वारा सस्ते अनुदानयुक्त देने की सिफारिश की थी, उसी ने रंग बदल लिया। वर्ष 1991 के बाद विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के निर्देशन में भारत सरकार ने अनुदानों को कम करते हुए उन सारे उपादानों को महंगा करने की नीति अपनाई।"[1] महंगाई की मार तथा खेती के घाटे ने किसानों को पलायन के लिए मजबूर किया।

विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के साथ खुले आयात की नीति के चलते कृषि उपज के सस्ते आयात ने भारतीय किसानें की कमर तोड़ दी। बढ़ती लागत और कृषि उपज के घटते दामों के दोनों पाटों के बीच भारतीय किसान बुरी तरह पिसने लगे। खेती का घाटा तेजी से बढ़ने लगा और किसान कर्ज में डूबते गए। संकट इतना घना हो गया कि देश के कई हिस्सों में किसान कोई चारा ना देख बड़ी संख्या में आत्महत्या करने लगे।

भारत सरकार के राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो द्वारा प्रस्तुत आंकड़े के अनुसार, "1995 से 2010 तक 16 वर्षों में दो लाख छप्पन हजार नौ सौ तेरह किसानों ने आत्महत्या की।"[2] किसानों की आत्महत्या की संख्या इससे भी कई गुणा होगी, जो किन्हीं कारणों से इन आंकड़ों में नहीं है। खेती के संकट से जुझते किसानों की आत्महत्या की यह संख्या बढ़ती जा रही है। लगातार और सशक्त आन्दोलनों के बावजूद किसानों की स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुए। वैश्वीकरण की नीतियों ने किसान के संकटों को ओर अधिक बढ़ा दिया है तथा किसान आन्दोलन को भी कमजोर किया है।

किसान का मुख्य व्यवसाय खेती है, खेती के अलावा पशुपालन तथा बागवानी का काम भी लगभग प्रत्येक श्रेणी के किसान करते हैं। पशुधन किसान के जीवन का मुख्य हिस्सा है। उसी से वह अपने दैनिक जीवन की बहुत सी जरुरतों को पूरा करता है। सब्जियां तथा फूल लगाने का काम

[1] किशन पटनायक, किसान आन्दोलनः दशा और दिशा, राजकमल प्रकाशल, दिल्ली, पृष्ठ - 7

[2] 29 अक्तूबर 2011 को 'द हिन्दू' में छपे पी. साईंनाथ के लेख से

भी अधिकत्तर किसान करते हैं। जिनके पास भूमि की बहुत बड़ी - बड़ी जोते हैं और जो स्वयं खेती नहीं करते बस जमीन के मालिक होते हैं वे जमींदार कहलाते हैं। जमींदार किसान की श्रेणी में नहीं आते। जमींदार के अलावा किसान की अलग - अलग तीन श्रेणियां हैं। जिसमें सामान्य किसान, सीमांत किसान तथा खेत मजदूर शामिल हैं। सामान्य किसान के पास अपनी जीविका चलाने लायक भूमि होती है जिस पर खेती करके वह अपना जीवनयापन करता है। सीमांत किसान वे किसान हैं जिनकी भूमि की जोत बहुत ही छोटी या लगभग खत्म होने के कगार पर है, ये किसान खेती के साथ कुछ अन्य काम करके अपना जीवन चलाते हैं। तीसरे वे किसान हैं जो काम तो खेती का ही करते हैं पर उनके पास अपनी जमीन नहीं होती, ये खेतमजदूर होते हैं। इनकी स्थिति सबसे खराब होती है, जी - तोड़ मेहनत के बाद भी इन्हें पेटभर अनाज नहीं मिल पाता और ना ही किसान को मिलने वाली रियायतें या मुआवजा ही इनको मिल पाता है।

किसान परिवारों में महिला अपने खेत में हाड़ - तोड़ मेहनत करती हैं जबकि किसान के नाम पर पुरुष किसान की छवि ही आंखों के सामने आती है। सुबह से शाम तक घर तथा खेत में काम करने वाली महिला को किसान के रूप में देखा ही नहीं जाता है। उसके नाम ना खेत है ना ही खाते और ना ही उसे फसल का मूल्य या खेती संबंधी लाभ मिलते हैं। उल्टा अधिकत्तर क्षेत्रों में पूरा साल खेत का काम महिला करती है और फसल पर अधिकार उसके पति का होता है। महिला किसान की पहचान होना तथा उसे किसान समझा जाना जरुरी है।

4.1.2 किसान संबंधी साहित्य एवं आलोचना

किसान के जीवन, अनुभव, स्वप्न तथा संघर्ष को व्यक्त करने वाला साहित्य किसानी साहित्य है, जिसमें किसान लेखक तथा किसानी जीवन से जुड़े या सहानुभूति रखने वाले लेखक शामिल हैं।

भारतीय समाज तथा अर्थव्यवस्था का आधार किसान हमेशा से किसी - न - किसी रूप में साहित्य में उपस्थित रहा है। दिन रात मेहनत करके सबका पेट भरने वाले किसान की स्थिति से रचनाकार प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। किसान के सुख - दुख तथा समस्याओं को मध्यकाल

के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास के काव्य में अलग - अलग रूपों में किसान की उपस्थिति है। कबीर तथा सूरदास के साहित्य में भी किसान की उपस्थिति रही है, "भक्तिकालीन कविता के भीतर किसान कविता तथा किसान से सहानुभूति रखने वाली दोनों तरह की कविताएं मौजूद हैं।"[1]

ब्रिटिश उपनिवेशवाद से पूर्व घाघ, डाक तथा भड्डरी की सूक्तियां किसान जीवन में बहुत लोकप्रिय रहीं। बाद में मुकुंदलाल गुप्त (कृषि रत्नावली), ग्रियर्सन (बिहार पिजेंट लाइफ), बी. एन. मेहता (युक्तप्रांत में कृषि संबंधी कहावतें) आदि ने घाघ, डाक तथा भड्डरी की सूक्तियों का संकलन किया। इनकी सूक्तियां अवधी, भोजपुरी, मगही, मैथिली, मारवाड़ी आदि भाषाओं में दोहा, चौपाई छंदों में प्रचलित रही।

आधुनिक काल के रचनाकारों ने किसान के जीवन पर अनेक रचनाएं लिखी। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने किसान के समर्थन में तत्कालीन अर्थशास्त्र की समीक्षा लिखी। प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' पत्र में ब्रिटिश व्यवस्था के सामने 'किसान और किसानी की बर्बादी' पर टिप्पणी की। मिश्र जी ने किसान की जर्जर हालत तथा बैलों की कमी के बारे में चिंता व्यक्त की। बालमुकुंद गुप्त ने अपने काव्य किसान की दुर्दशा के प्रति संवेदना में व्यक्त की। गुप्त जी की 'टेसू' कविता में, "तत्कालीन आयोग के मुखिया लार्ड कर्जन की किसान विरोधी नीति की कड़ी आलोचना है।"[2] प्रेमघन ने 'जीर्ण जनपद' में किसानों की दुर्दशा तथा उसके कारणों का विस्तृत विश्लेषण किया।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका में भारतीय किसानों की बर्बादी तथा जमींदारों के शोषण पर कई निबंध प्रकाशित किए। 'सरस्वती' में ही 'आर्त कृषक', 'जाड़ा और निर्धन', 'भारतीय कृषक', 'वर्तमान दुर्भिक्ष' आदि किसान जीवन पर केन्द्रित कविताएं छपी। मैथिलीशरण गुप्त ने 'किसान' खण्डकाव्य लिखा, जिसमें किसानों तथा मजदूरों के जीवन का लेखा - जोखा प्रस्तुत किया गया। किसानी जीवन पर केन्द्रित सहजानंद सरस्वती की 'जमींदारी उठा दी जाए', 'बकाश्त की लड़ाई' तथा 'किसान आंदोलन क्यूं और क्या', राहुल सांकृत्यायन की 'दिमागी

[1] रामाज्ञा शशिधर, किसान आंदोलन की साहित्यिक जमीन, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, पृष्ठ - 49

[2] वही, पृष्ठ - 63

गुलामी', 'तुम्हारी क्षय' आदि पुस्तकें आई। प्रेमचंद के साहित्य में किसान इतने विस्तृत रूप में आया कि उनके साहित्य की पहचान ही 'किसानी साहित्य' के रूप में होने लगी।

हिंदी साहित्य में आजादी से पहले तक की मुख्यधारा के अनेक रचनाकारों ने किसान जीवन पर लेखन किया। गया प्रसाद शुक्ल स्नेही, दिनकर, निराला, नागार्जुन, नरेंद्र शर्मा, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल आदि की रचनाओं में तत्कालीन व्यवस्था के दमन, लूट, हिंसा आदि के चित्र हैं, जिनसे किसान प्रत्येक रूप में प्रभावित हुआ है।

वर्तमान में जिस रूप में उदारीकरण - निजीकरण की नीतियों के कारण किसान का संकट बढ़ रहा है उस रूप में समकालीन साहित्यकारों ने उसका नोटिस नहीं लिया है। लेखक अखबार में लाखों किसानों की आत्महत्या की खबर पढ़कर सहानुभूति या फैशन के तौर पर चार पंक्तियां लिखकर संतोष पा रहे हैं। साहित्यकार का किसानी जीवन से सीधा सरोकार खत्म होता जा रहा है जिस कारण उसके जीवन का यथार्थ साहित्य में नहीं आ रहा। साहित्य में किसान की अनुपस्थिति के बारे में मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "लगता है कि भारतीय किसानों की इतनी बड़ी संख्या में आत्महत्या की भयानक खबर अभी पूरी तरह हिंदी साहित्य की दुनिया में नहीं पहुंची है, क्योंकि अभी हिंदी में किसानों की आत्महत्या पर इतनी और ऐसी कविताएं या कहानियां नहीं लिखी गयी हैं जो पाठकों को बेचैन और आंदोलित करें। वैसे पिछले दो दशकों में हिंदी साहित्य का लगातार शहरीकरण हो रहा है। ऐसे में गांवों और किसानों की दुर्दशा और तबाही की चिंता का कम होना समझ में आता है।"[1] किसानों की भयावह सामाजिक स्थिति तथा साहित्य में उनकी अनुपस्थिति चिंतनीय है। देश की 60 प्रतिशत आबादी की साहित्य में उपस्थिति एक प्रतिशत हो तो साहित्य में किसानी विमर्श को समझना कठिन न होगा।

क्षेत्रीय साहित्यकारों की रचनाओं में किसानी जीवन के संकट कुछ हद तक जरुर अपनी जगह बना पाए हैं। कुछ साहित्यकारों की रचनाओं में किसान के संघर्ष तथा उनकी अनदेखी के प्रति विद्रोह है, लेकिन यथार्थ रूप में किसान के संकटों से ज्यादा उसके कामगर रूप का चित्रण

[1] मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 146

साहित्य में ज्यादा होता आया है। हल चलाते किसान, लहलहाती फसलों की जगह अब कर्ज का बोझ, फसलों की बर्बादी तथा नई नीतियों से जूझते किसान का चित्रण है। वर्तमान में कृषि क्षेत्र में हुए तकनीकि बदलाव तथा कृषि के बदलते स्वरूप को रेखांकित करने की जरुरत आज के साहित्य में है।

समकालीन साहित्य में किसान जीवन की अनुपस्थिति को उपन्यासकार संजीव का उपन्यास फांस तोड़ता है। यह रचना किसानी जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज कही जा सकती है। आज के रचनाकारों का किसानी जीवन से कटाव का एक कारण शहरी रचना संस्कृति है, जिसमें लेखक वातानुकुलित कमरों में बैठकर किसानी जीवन की पीड़ा को व्यक्त करने का मजाकिया काम करता है वहां संजीव का यह उपन्यास किसानी जीवन के लम्बे अध्ययन का साक्ष्य है।

कुछ रचनाकारों की रचनाओं में किसान के संकट तथा संघर्ष जरुर आए हैं। हिंदी साहित्य में अष्टभुजा शुक्ल 'हाथा मारना' कविता में किसानी करने को कविता लिखने से ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं। दिनेश कुमार शुक्ल किसानों की बढ़ती आत्महत्याओं से चिंतित हो कहते हैं "किस युग की बात है सो तो अब याद नहीं/ पर तब आत्महत्याएं नहीं करते थे/ किसान इस तरह...../ किसान उखाड़ फेंकते थे/ साम्राज्य को भी खरपतवार - सा।"[1] उमाशंकर चौधरी मुआवजे के नाम पर किसानों के साथ होने वाले भद्दे मजाक को अपनी कविता में रेखांकित करते हैं, "वह बूढ़ा किसान/ जिसके खेत में पड़ चुका है सूखा/ जिसकी फसल हो चुकी है सूखकर खरपतवार/ उन्हें सरकार की तरफ से दिया गया है/ तीन सौ पचहत्तर रुपये का मुआवजा।"[2] राजेश जोशी तथा विष्णु खरे की कविताओं में भी किसानी जीवन की चिंताओं को देखा जा सकता है।

साहित्यिक कृतियों में जितना स्थान किसान को मिला है उससे कुछ कम ही हिंदी आलोचना में मिल पाया है। एक दो पुस्तकों को छोड़ दे तो हिंदी आलोचना में किसानी साहित्य पर एकाग्र आलोचनात्मक पुस्तक देखने को नहीं मिलती। जिस तरह रचना में टुकड़ों - टुकड़ों में

[1] पी. रवि (सम्पा.), कविता का वर्तमान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 42

[2] उमाशंकर चौधरी, कहते हैं तब शहंशाह सो रहे थे, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 46

किसानी जीवन आया है उसी तरह आलोचना में किसानी साहित्य आया है। किसान या किसानी साहित्य हिंदी आलोचना का केंद्रीय विषय नहीं बन पाया है।

रामाज्ञा शशिधर ने अपनी पुस्तक 'किसान आंदोलन की साहित्यिक जमीन' में किसान आंदोलन के विस्तृत इतिहास का उल्लेख किया है। किसान आंदोलन का साहित्य पर प्रभाव तथा साहित्य में किसान की उपस्थिति पर भी रामाज्ञा शशिधर ने विस्तार से लिखा है। किसानों के संघर्ष तथा प्रतिरोध को पहचानते हुए रामाज्ञा जी ने मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में किसान की कविता तथा लोकसाहित्य का ब्यौरेवार वर्णन रामाज्ञा जी ने किया है।

आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तकों में किसान के बारे में लेख लिखकर किसानी विमर्श को समृद्ध किया है। इन्होंने किसानों की बढ़ती आत्महत्याओं, सरकार की नीतियों तथा साहित्य में किसान की उपस्थिति पर बार - बार सवाल उठाए हैं।

अशोक कुमार पाण्डेय की पुस्तक 'शोषण के अभ्यारण्य' में नवसाम्राज्यवादी दौर में किसानों पर आ रहे संकटों के प्रति चिंता है। भूमण्डलीकरण की आंधी में आई नई नीतियों के भारतीय किसान पर प्रभाव को लेकक ने रेखांकित किया है। भूमि अधिग्रहण, कर्ज, महंगाई की मार को झेलते मजबूर किसानों की आत्महत्याएं लेखक को बेचैन करती हैं। विकास के नाम पर किसानी की बर्बादी तथा बढ़ते खाद्य संकट को लेखक ने समझा है। भूमण्डलीकरण, उदारीकरण तथा निजीकरण की नई नीतियों के फलस्वरूप हुई किसानों की बर्बादी तथा बढ़ती बेरोजगारी पर लेखक ने तल्ख सवाल खड़े किए हैं।

4.1.3 किसान संबंधी साहित्य एवं आलोचना के प्रमुख मुद्दे

आधुनिक समय में वैश्वीकरण तथा उदारीकरण की पीठ पर सवार बाजार के विस्तार ने तथा बदलती जीवन शैली की बढ़ती जरुरतों ने किसान के लिए संकट खड़ा कर दिया है। नदियों बांधों की परियोजनाओं, बड़ी कम्पनियों की स्थापना तथा रिहायशी क्षेत्र के लिए भूमि अधिग्रहण करके किसानों को विस्थापित होने के लिए मजबूर किया जा रहा है। विकास के नाम पर जमीन की यह जरुरत किसान को उसकी जमीन से खदेड़कर पूरी की जा रही है। किसान की जीविका के

आधार को खत्म करके निजी कम्पनियों को कम दामों में जमीन दी जा रही है। इस बारे में अशोक कुमार पाण्डेय लिखते हैं, "देश के आर्थिक विकास की गति तेज करने के लिए निर्यातोन्मुखी उद्यमों के उत्पादन को प्रोत्साहित करने हेतु मुक्त वातावरण उपलब्ध कराने के नाम पर यह दरअसल देशी - विदेशी उद्योगपतियों को रेवड़ियां बांटने और किसानों से बेहद सस्ती कीमतों पर जमीन हासिल करने के जनविरोधी करानामे को राज्यव्यवस्था की देखरेख में अंजाम देने की शर्मनाक कोशिश है।"[1] जमीन में फसलों की जगह रातों - रात उग आई बहुमंजिला इमारतों के खतरे को साहित्य बखूबी पहचान रहा है।

भूमि अधिग्रहण तथा खेती के संकट से जूझता किसान अपनी आजीविका के लिए विस्थापित होने को विवश हो रहा है। खेती छोड़कर वह मजदूरी के लिए शहर की तरफ जा रहा है। मैनेजर पाण्डेय इस बारे में चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि "भारत में किसान और कृषि गहरे संकट में है। किसानों के संकट की गम्भीरता का प्रमाण उनकी आत्महत्याओं की संख्या से मिलता है, परंतु कृषि के संकटग्रस्त होने का सबूत यह है कि बड़ी संख्या में किसान अब खेती से मुहं मोड़कर शहरों की ओर भाग रहे हैं।"[2] शहर में वह छोटी - मोटी रेहड़ी लगाकर अपना गुजारा कर रहा है, और किसान महिलाएं चौका - वासन करने वाली नौकरानियां बन रही हैं। गांव के पढ़े - लिखे नौजवान न तो किसानी कर पाते हैं और न ही उन्हें कोई नौकरी मिल पाती है। खेती से लगातार पलायन का कारण उसमें हो रहे घाटे तथा असुरक्षा का भाव है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 2005 के अनुसार, "1991 से 2001 के बीच 44 लाख तथा 2001 और 2005 के बीच 1 करोड़ 70 लाख किसान परिवारों को खेती छोड़ने पर विवश होना पड़ रहा है। 10 में से 8 किसानों के लिए आज खेती गले की हड्डी बन गई है।"[3] किसान का यह विस्थापन उसकी मजबूरी है जो साहित्य को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता।

फसलों के उत्पादन का खर्च लगातार बढ़ता जा रहा है। दूसरी तरफ बढ़ती महंगाई में किसान अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर पा रहा है। जीवन को सामान्य तरीके

---

[1] अशोक कुमार पाण्डेय, शोषण के अभयारण्य, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 49 - 50

[2] मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 144

[3] उमा रमण (सम्पा.), देश - विदेश, पुस्तिका - 8, नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के दो दशक, देश - विदेश प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 20

से जीने के लिए उसके पास पर्याप्त साधनों का अभाव है जिस कारण उसे साहूकारों से या बैंकों से कर्ज लेना पड़ रहा है। साहूकार उससे मन मर्जी का ब्याज वसूलता है और कर्ज न चुका पाने की स्थाति में उसकी जमीन कुर्क कर लेता है। किसान की इस स्थिति की तरफ लगातार हिंदी साहित्यकारों का ध्यान रहा है। आज के साहित्यकार कर्ज में डूबे किसानों की समस्या, गिरवी होती जमीनों, साहूकार तथा सरकारी तंत्र द्वारा किए जाने वाले शोषण तथा इन सब कारणों से आत्महत्या करते किसान के प्रति सहानुभूति तथा चिंता व्यक्त कर रहे हैं। मैनेजर पाण्डेय नवउदारवादी नीतियों को किसान के विरुद्ध बताते हुए उनके बढ़ते कर्ज का कारण इन नीतियों को मानते हैं, "नवउदारवादी नीतियों के तहत खेती में पूंजी निवेश और कम किया गया, बैंकिंग सुधारों के नाम पर खेती के लिए सांस्थानिक कर्ज के स्रोत सूख गये। खेती पर राजकीय इमदाद (सब्सिडी) कम किया गया, इससे खेती की लागत बढ़ती गयी, फिर 1995 में कायम विश्व व्यापार संगठन की शर्तों के मुताबिक खेती में विदेशी व्यापार को बढ़ावा दिया, इससे खेतिहर पैदावार के बाजार भावों में भारी गिरावट आयी..... नतीजा यह हुआ कि पहले ही लचर और कमजोर खेतिहर आर्थिक तंत्र ध्वस्त हो गया, राजसत्ता ने खेती से अपने पैर खींचे तो उसकी जगह निजी महाजनों की बन आयी। वे कर्ज से लेकर खाद, बीज, कीटनाशक मुहैया करने और पैदावार की खरीद बिक्री का काम धड़ल्ले से बिना किसी कायदे कानून के करने लगे, इस तरह कमजोर किसान कर्ज के ऐसे दुश्चक्र में फंसते चले गये जो लगातार उन्हें जकड़ता गया।"[1] कर्ज की इस समस्या से छुटकारा कर्जमाफी से नहीं मिल सकता। किसान के लिए फसल संबंधी दूसरी ऐसी नीतियां बनाई जानी चाहिए जिनके तहत किसान को कर्ज लेना ही ना पड़े। क्योंकि "कर्जमाफी से हो सकता है कि सम्पन्न किसानों के एक हिस्से को थोड़ी फौरी राहत मिल जाए, लेकिन एक बार फिर जब वे नए कर्ज लेकर उत्पादन करने जाएंगे तो उन्हें उसी बाजार में जाना होगा जहां मोसेंटो, सिजेंटा और कारगिल जैसे साहूकार अपने खूनी पंजों सहित उनका एहतराम करेंगे। नतीजा एक बार फिर वही फंदा, वही घाटा और कर्ज चुकाने की वही जद्दोजहद। जहां तक भूमिहीन कृषि मजदूरों का सवाल

[1] मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 144

है तो वे अब किसी एजेण्डे में रहे ही नहीं।"[1] किसानों को कर्ज से छुटकारा दिलाने के लिए नीतियों में बदलाव जरुरी है।

विकास के नाम पर अधिक उत्पादन का लालच देकर महंगी खाद - बीज तथा कीटनाशकों के प्रयोग को बढ़ावा दिया जा रहा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा पेस्टीसाइड तथा महंगे बीज देकर एक तरफ जहां किसान की जमीन की उत्पादन क्षमता को प्रभावित किया जा रहा है वहीं दूसरी तरफ फसल के उत्पादन तथा आमदनी का संतुलन बिगाड़ा जा रहा है। जिसकी मार स्वास्थ्य, पर्यावरण तथा किसान की आर्थिक स्थिति सब पर पड़ रही है। इस चौतरफा मार को साहित्य ठीक से समझ रहा है तथा सचेत तौर पर इसका विरोध कर रहा है।

फसलों के न्यूनतम समर्थन मूल्य के लिए किसान सालों से संघर्ष कर रहा है। कभी पंजाब का किसान आलू की कीमत मात्र पचास पैसे मिलने पर सड़कों पर आलू फेंक रहा है तो कभी वह गन्ने की उचित कीमत के लिए लड़ रहा है। कई बार फसल के मूल्य से उसकी लागत कीमत भी पूरी नहीं हो पाती और किसान का जीवन संकट में फंस जाता है। साहित्य में फसलों के उचित समर्थन मूल्य की बात बार - बार उठाई जाती है। फांस में एक महिला किसान अपनी कपास का उचित मूल्य न मिल पाने पर उसे वापिस उठा लाती है, उसकी कपास बरसात में भीगकर बर्बाद हो जाती है लेकिन वह उसे कम मूल्य पर नहीं बेचकर किसानों की अनदेखी करती व्यवस्था पर सवाल उठाती है।

जमीन से बेदखली, कर्ज की समस्या, महंगाई से जूझता किसान या तो विस्थापित हो रहा है या आत्महत्या करने के लिए मजबूर है, "भूमण्डलीकृत उदारीकरण ने किसान को उदारीकरण के जाल में कुछ ऐसे फंसा दिया कि बीज, खाद, सिंचाई और खेती के औजारों के लिए लिया गया कर्ज उसके गले की फांस बनने लगा और देखते ही देखते देश के लाखों किसान आत्महत्या के लिए विवश होने लगे।"[2] किसानों की बढ़ती आत्महत्याओं के बारे में आलोचकों ने बार - बार सवाल उठाएं हैं। इस संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि "पिछले बीस वर्षों में जितनी बड़ी संख्या

[1] अशोक कुमार पाण्डेय, शोषण के अभ्यारण्य, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 30

[2] 19. 6. 2016 को दैनिक ट्रिब्यून में बलराम के लेख 'किसान के बेबस जीवन की 'फांस'' से

में भारत के किसानों ने आत्महत्या की है वह भारत के इतिहास में ही नहीं पूरे मानव समाज के इतिहास में अपूर्व है। इससे यह भी साबित होता है कि किसानों के आत्महत्या के प्रसंग में भारत अतुल्य है। यही एक ऐसा संदर्भ है जिसमें अतुल्य भारत का नारा सही साबित हुआ है। इतनी बड़ी संख्या में किसानों की आत्महत्या को राष्ट्रीय शोक या राष्ट्रीय शर्म के रूप में स्वीकार करना मानवीय सभ्यता की मांग है।"[1]

देश की 60 प्रतिशत से ज्यादा आबादी अपनी जीविका के लिए खेती पर निर्भर है। खेती आर्थिक व्यवस्था को मजबूत करती है, उत्पादन से सबकी जरुरते पूरी करती है। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में खेती की लागत बढ़ी है तथा किसान की आमदनी में गिरावट आई है। ऐस में खेती पर आए संकट को मिटाने के लिए राज्य को कदम उठाने चाहिए तथा ठोस नीतियों का निर्माण करना चाहिए। खेती के लिए नीतियों को कार्यरूप देने का प्रयास जरुर रहा है। पूरणचंद जोशी के शब्दों में, "किसान को नवनिर्माण की मुख्य प्रेरणा शक्ति बनाने के उद्देश्य से प्रेरित एक विकल्प की तलाश का विचार भारत के राष्ट्रीय नवजागरण और स्वाधीनता संग्राम की सभी मुख्य चिंतनधाराओं का विषय रहा है।"[2] लेकिन आज के समय में राज्य की नीतियों से किसान गायब है। किसान की मुख्य जरुरतों तथा खाद - बीज, दवाइयों पर रियायते लगातार कम हो रही हैं। महंगाई, कर्ज तथा खाद - बीज की रियायतों में कमी से किसान लगातार आर्थिक संकट से जूझ रहा है। फसलों का अपेक्षित समर्थन मूल्य नहीं मिल रहा है। लगातार जमीन की उपजाऊ शक्ति में कमी आती जा रही है। राज्य को किसान की इन स्थितियों को देखते हुए उचित नीतियां बनाकर उसकी स्थिति में सुधार के प्रयास करने चाहिए।

4.2 बाजारवाद

आदिम समाज में सामूहिक उत्पाद तथा सामूहिक उपभोग होता था। सामंती समाज में उत्पादन का कुछ हिस्सा अपने उपभोग के लिए होता था तथा कुछ हिस्से से दूसरों की जरुरतें पूरी की जाती था। पूंजीवादी समाज में उत्पादन तथा उपभोग की पूरी प्रणाली बदल गई है। आज बाजार

[1] मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 143

[2] पी. रवि. (सम्पा.), कविता का वर्तमान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 42

की जरुरतों को ध्यान में रखकर उत्पादन किया जाता है। उत्पादन संबंधों के बदलते स्वरूप के साथ - साथ बाजारवाद ने एक वैकल्पित संस्कृति पैदा की है।

4.2.1 बाजारवादः सामान्य परिचय

आनंद प्रकाश बाजारवाद को विकसित देशों में विकसित समाज - प्रणाली की देन मानते हुए कहते हैं कि "दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जो एक खास तरह की समाज - प्रणाली पश्चिम में विकसित हुई और धीरे - धीरे पूर्व के देशों तक पहुंची, उसके अंदर बाजार ने अपनी सत्ता कायम की है और इसे यदि बाजारवाद कहा जाता है, तो हमारे लिए यह एक उपयोगी अवधारणा है।"[1]

रमेश उपाध्याय बाजारवाद की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि "बाजारवाद का मतलब है यह मानकर चलना कि दुनिया में हर चीज बेची और खरीदी जाने के लिए है, चाहे वह प्राकृतिक हो, या मानवीय श्रम से निर्मित, या मानवीय सर्जनात्मकता से रचित।"[2] अरुण होता के अनुसार, "पूरी दुनिया को बाजार में तब्दील करने की संकल्पना बाजारवाद कहलाती है।"[3] बाजारवादी व्यवस्था वस्तु को महत्व देती है, "बाजार के लिए सब कुछ प्रोडक्ट है। चाहे मनुष्य हो या उसकी भाषा, संस्कृति हो या मानवीय संबंध, सभी प्रोडक्ट हैं। इनकी महत्ता आंकी जाती है बाजार को मिलने वाले मुनाफे के आधार पर। वस्तु मुख्य हो जाती है और मनुष्य गौण।"[4]

हमेशा से ही व्यक्ति के जीवन में बाजार की भूमिका रही है। लेकिन शुरुआती बाजार निर्णायक भूमिका में नहीं था। कबीर तथा अन्य मध्यकालीन रचनाकारों की रचनाओं में बाजार का जिक्र बार - बार आया है। सूरदास ने अपनी रचनाओं में 'आयो घोष बड़ो ब्योपारी' कहकर व्यापार का वर्णन किया है तथा गोपियों द्वारा व्यर्थ का सामान खरीदने से इनकार करवाया है 'यह व्यापार तिहारो ऊधो। ऐसोई फिरी जैहे।', 'कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ' या 'कबिरा खड़ा बाजार में मांगे सबकी खैर' पढ़कर लगता है कि उस समय बाजार सामूहिक अभिव्यक्ति का कोई स्थल रहा होगा, जहां सबकी खैर मांगी जा रही है, लेकिन आज बाजार का स्वरूप पूरी तरह

---

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, बाजारवाद और नई सृजनशीलता, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 9

[2] वही, दिल्ली, पृष्ठ - 69

[3] शंकर (सम्पा.),परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 76

[4] वही , पृष्ठ - 76

बदल चुका है। अब विज्ञापन उपभोक्ता को डसने के लिए हर समय अपना मुहं बाए खड़े रहते हैं। जो बाजार अतीत में हमारी जरुरतें पूरी करने वाला जीवन का हिस्सा था आज वह हमारे जीवन के लिए बाध्यता बनता जा रहा है। बाजार ही हमारे जीवन की दशा और दिशा तय कर रहा है, "बाजारवाद एक शोषण - प्रक्रिया का नाम है, जिसके माध्यम से ऐसे संसार की रचना हो रही है, जिसमें कुछ लोगों के पास अथाह सुख हैरत, और अधिकांश ठन - ठन गोपाल, एक ओर चमकता भारत, दूसरी ओर पीड़ित भारत। उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण की नीतियों से पूँजी का प्रवाह इस तरह से हुआ कि खरबपतियों की संख्या भी बढ़ रही है और गरीबों की संख्या में भी बेहताशा वृद्धि हो रही है।"[1] बाजारवाद की भयावह छवि को पहचाने बिना उसके जाल से मुक्त होना संभव नहीं है। रमेश उपाध्याय के शब्दों में कहें तो, "जो बाजार हमें इन दिनों डरा रहा है, उसके असली संकटों को समझने के लिए हमें उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को भी समझना होगा, क्योंकि इतने भर कह देने से काम नहीं चलता या तस्वीर साफ नहीं होती कि बाजारवाद हर चीज को बिकाऊ मान लेने वाली विचारधारा है।"[2] वस्तुओं को बिकाऊ बनाने वाली बाजारवादी व्यवस्था मनुष्य का वस्तुकरण कर रही है, और ऐसा करने के लिए वह मनुष्यता के सभी मूल्यों को नष्ट करती है, "बाजार ने मनुष्य को इतिहास निरपेक्ष बनाने की कोशिश की है, ताकि इतिहास ने मनुष्य को त्याग, संयम, प्रतिरोध के जो मूल्य सिखाये हैं, उन्हें नष्ट किया जा सके।"[3]

देशों की सीमाएं लांघते हुए विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष विकास के नए मानक और बाजार के स्वरूप का निर्धारण कर रहे हैं। जिसमें एक तरफ स्थानीय जरुरतों को नजरअंदाज किया जा रहा है तो दूसरी तरफ अकूत उपभोग की आदतें पैदा की जा रही हैं। बाजार में उत्पादन तथा खपत के बीच पूंजी ने मुनाफा कमाने के लिए दूरी पैदा की है। धीरे - धीरे बाजारवाद वैश्विक साम्राज्यवाद के रूप में विकसित हो रहा है।

राष्ट्रीय नियंत्रण की जगह विश्व व्यापार संगठन का नियंत्रण होना, खाद्य, मनोरंजन, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में व्यापार का फैलना तथा उत्पादन से ज्यादा प्रबंधन पर ध्यान आदि ऐसी

---

[1] डा. सुभाष चन्द्र, हरियाणा की कविताःजनवादी स्वर, लोकमिश्र प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 95

[2] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, बाजारवाद और नयी सृजनशीलता, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 33

[3] शिव वर्मा (सम्पा.), नया पथ, जनवरी - जून 2012 (संयुक्तांक) में वैभव सिंह के लेख 'विचार का जनतन्त्र' से, पृष्ठ - 47

चीजे हैं जिसने बाजार की व्यवस्था के स्वरूप को पूर्णतः बदला है। बाजार की इस नई व्यवस्था में एक तरफ जहां छोटे दुकानदार, रेहड़ी - पटरी वालों के लिए रोजगार का संकट पैदा हो रहा है वहीं दूसरी तरफ गरीब बस्तियों को लीलकर मॉल तथा शोरुम बनाएं जा रहे हैं। बाजार की इस नई व्यवस्था में शिक्षा वर्चस्वशाली वर्गों के लिए सेवक तैयार करने का माध्यम बन गई है। निजीकरण की नीतियां दुनिया की आर्थिक बुनियाद तैयार कर रही है। कला और साहित्य मात्र मनोरंजन का साधन बन रहे हैं, मीडिया लोगों की सोच तथा जीवन को निर्धारित कर रहा है। आज बाजार मनुष्य के ज्ञान तथा उत्पादन को उसी के खिलाफ इस्तेमाल कर रहा है।

अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए व्यक्ति बाजार की होड़ में शामिल है। सभी व्यक्ति प्रतिद्वंद्वी बनते जा रहे हैं जिसमें सहयोग के लिए कोई संभावना नहीं बचती। बाजारवादी संस्कृति व्यक्ति में असुरक्षा तथा गलाकाटू प्रतिस्पर्धा पैदा करती है, परिणामस्वरूप व्यक्ति अनैतिक तथा अनुचित उपायों का सहारा लेकर आगे निकलने का प्रयास करता है। व्यक्ति की आकांक्षा का स्तर रुढ़िवादी, उपभोक्तावादी तथा अवसरवादी होता जा रहा है। सीमित उद्देश्यों के साथ कैरियरवाद उस पर हावी है।

बाजारवादी व्यवस्था ने व्यक्ति में त्याग की जगह संग्रह की भावना पैदा की है। सामाजिक प्रतिस्पर्धा तथा अपनी शान - शौकत वह अधिक से अधिक वस्तुओं के संग्रह से आंकता है। इसीलिए बाजार उसके लिए महतवपूर्ण हो जाता है। व्यक्ति की बाजार में सक्रियता बढ़ती जा रही है, बाजार उसे डराता नहीं बल्कि लुभाता है, न ही बाजार उसके दिमाग में नैतिक दुविधा पैदा करता है, बल्कि खरीददारी उसे सुकून देती है, राहत देती है और बाजार उसके लिए तनाव से मुक्ति का माध्यम है। वस्तुएं जीवन से ज्यादा जगह घेर रही हैं, वस्तुओं का बढ़ता प्रचार मनुष्य का वस्तुकरण कर रहा है।

बाजारवाद विविधता को एकरुपता में तब्दील करता है। मशीनों से तैयार हजारों - लाखों वस्तुएं एक ही आकार - प्रकार तथा रंग - रूप की होती हैं। जिसमें सृजक या श्रमिक की कोई पहचान नहीं होती जबकि कारीगरों के हाथों से तैयार वस्तुओं में विविधता भी होती है और सृजक

की पहचान भी, क्योंकि एक वस्तु को एक ही व्यक्ति तैयार करता है। वस्तु निर्माण के साथ - साथ वस्तु के उपभोग में भी विविधता की जगह एकरुपता बढ़ रही है। अब बाजार में एक ही तरह की हजारों वस्तुएं उपलब्ध हैं और लगातार प्रचार के साथ उपभोक्ता को उन्हें खरीदने के लिए प्रेरित किया जाता है। सैक्टरों में एक जैसे घरों के साथ - साथ एक जैसी गाड़ी, एक जैसे रहन - सहन की संस्कृति पैदा की जा रही है।

बाजार के विस्तार ने व्यक्ति की सामाजिकता को समाप्त करते हुए उसे स्वकेन्द्रित बनाया है। बाजार प्रदत असीम इच्छाओं को पूरा करने की भागदोड़ में व्यक्ति अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को तो पीछे छोड़ ही देता है व्यावसायिक रिश्तों में बहुत ज्यादा औपचारिक भी हो जाता है। बाजार का विस्तार मनुष्य को सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करने की छूट प्रदान करता है। मनुष्य की प्रत्येक गतिविधि पर बाजार हावी होता जा रहा है परिणामस्वरूप परिवार, गांव तथा समाज में बिखराव हो रहा है। मनुष्य की इच्छाओं को बढ़ाकर, उसे तरह - तरह के लालच दिखाकर बाजार अपराधीकरण को बढ़ा रहा है, जिससे व्यक्ति की सामाजिक सुरक्षा खतरे में पड़ रही है। बाजार मनुष्य की इच्छाओं, जरुरतों तथा कल्पनाओं का संचालन करता है और जिसमें मनुष्य का चिंतन भी उसका अपना नहीं रह जाता। ऐसे में वह समतामूलक समाज की कल्पना नहीं कर सकता बल्कि स्वयं असुरक्षित महसूस करता है और अपने लिए सुरक्षित जगह ढूंढता है। मनुष्य की पूरी क्षमता बाजार से जूझने में ही लगने लगती है। बाजार ने व्यक्ति को प्रतियोगी तथा प्रदर्शनप्रिय बनाया है जिसके चलते उसका पूरा जोर बाहरी व्यक्तित्व पर ही रहता है। बूट - सूट पहनकर चलने वाला अज्ञानी व्यक्ति ज्ञानवान से अधिक इज्जत पाता है।

4.2.2 बाजारवाद संबंधी साहित्य एवं आलोचना

बाजारवाद की चुनौतियों को समझते हुए साहित्यकारों ने उन पर पैनी दृष्टि से चिंतन किया है। बाजार ने जहां समाज के हर वर्ग हर व्यक्ति को अपनी गिरफ्त में लिया है वहीं साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। साहित्य अपने परिवेश से लेखन ऊर्जा तथा रचना विषय ग्रहण करता है। स्वयं प्रकाश ने 'ईंधन' उपन्यास में बाजार के बढ़ते फैलाव और उसकी गिरफ्त में फंसे व्यक्ति का बखूबी

चित्रण किया है, "अक्तूबर में कोका कोला दो हजार तीन सौ करोड़ रूपये का निवेश लेकर आ गयी। लोग पहले की तरह खा पी रहे थे, सपने देख रहे थे और दूसरों के दिखाए सपने साकार करने की खातिर रात दिन भाग - दौड़ कर रहे थे.....इट्स माय लाइफ थी।"[1] रचना में मौजूद सामाजिक जीवन, कला व वैश्विक दृष्टि को समझने के लिए साहित्य में परोक्ष रूप से उपस्थित बाजार के प्रभाव व हस्तक्षेप को समझना बेहद जरुरी है। क्योंकि रचना जहां एक तरफ बाजार से जूझ रही है व इसका विरोध कर रही है वहीं दूसरी तरफ वह बाजार पर आश्रित व उससे प्रभावित भी है। टी.वी., इन्टरनेट, फोन, फेसबुक, व्हटस अप आदि ने आमजन को अपनी गिरफ्त में इस हद तक ले लिया है कि साहित्य उनके लिए अनुपयोगी वस्तु बनता जा रहा है।

आज के समय में साहित्य पर बाजार का दबाव बढ़ता जा रहा है, जैसे - जैसे दबाव या चुनौतियां बढ़ती हैं वैसे - वैसे संघर्ष भी बढ़ता है। पिछले कुछ सालों में साहित्य में बाजारवाद के प्रति यह संघर्ष सामने आया है। जिसका मुकाबला साहित्यकार कर रहा है। बाजार के प्रभाव में साहित्य का उत्पाद ही उसकी गुणवत्ता निर्धारित करने लगा है। माना जाने लगा है कि कृति जितनी विवादास्पद होगी उतनी ही चर्चित होगी और उसी के अनुसार उसका मूल्य भी बढ़ेगा। बाजारवादी विचारधारा के तहत सृजनात्मक कार्य जिसमें साहित्य भी शामिल है वह सामूहिक न रहकर व्यक्तिगत अभिव्यक्ति बन जाती है। बाजार अपने लाभ के लिए साहित्यिक शक्तियों को नियंत्रित करता है। साहित्यकार को व्यापक मानवीय उद्देश्यों से भटकाकर बाजार व्यक्तिगत तथा व्यावसायिक सीमित उद्देश्यों के लिए प्रेरित करता है।

साहित्यकारों में उदय प्रकाश, अखिलेश, स्वयं प्रकाश, पंकज मित्र, नीलाक्षी सिंह, गीत चतुर्वेदी, उमाशंकर चौधरी, कैलाश वनवासी, राकेश बिहारी, स्वयंप्रकाश, अल्का सरावगी, उदय प्रकाश, मंगलेश डबराल, विद्यासागर नौटियाल, ज्ञानेन्द्रपति, कुंवर नारायण, अष्टभुजा शुक्ल, विष्णु नागर, लीलाधर जगूड़ी, लीलाधर मंडलोई, पंखुरी सिन्हा, यतीन्द्र मिश्र, संजय कुंदन, उर्मिला शुक्ल आदि ने बाजारवादी चुनौतियों को स्वीकार करते हुए इस व्यवस्था का पर्दाफाश करने का

[1] स्वयं प्रकाश, ईंधन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 181

साहस दिखाया है। बाजारवाद तथा उपभोक्तावाद की चिंता, डर तथा परिणामों का जायजा इन साहित्यकारों ने लिया है।

'रेहन पर रघु' उपन्यास में लेखक बाजार तथा उपभोक्तावाद के प्रभाव से बदलती जीवनशैली का चित्रण बखूबी करता है, "इस उपन्यास में भारतीय गांव, अमेरिकन जीवन - शैली, स्त्रियों का संघर्ष, मीडिया गिरोह, दलाल, राजनीति, युवा वर्ग की सोच और सबके बीच कॉलेज की नौकरी से अवकाश प्राप्त रघुनाथ बाबू का संघर्ष - सबको लेकर काशीनाथ सिंह ने नव उपनिवेशवाद का एक विमर्श प्रस्तुत किया है।"[1]

बाजारवादी व्यवस्था की अराजकता उदय प्रकाश की कहानी 'मोहनदास' में दिखाई गई है। इस व्यवस्था से त्रस्त जीवन का चित्रण अखिलेश की कहानियों 'शापग्रस्त' तथा 'जलडमरु' में है। बाजारवादी वस्तुकरण को स्वयं प्रकाश की कहानी 'बर्डे' में चित्रित किया गया है जिसमें व्यक्ति से ज्यादा महत्व उपहारों को दिया जाता है। पंकज मित्र ने अपनी कहानी 'बेला का भू' में व्यवसाय की असलियत को बयान किया है, 'बिजुरी महतो की अजब दास्तान' में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का विरोध कर रहे व्यक्ति की दयनीय स्थिति का चित्रण है।

गीत चतुर्वेदी ने अपनी कहानी 'पिंक स्लीप डैडी' में इंश्योरेन्स कंपनी के माध्यम से बाजार की मंदी का जिक्र किया है तो दूसरी कहानी 'सिमसिम' में भूमाफियाओं की जालसाजी दिखाई है। सत्यनारायण पटेल की कहानी 'लुगड़ी का सपना' बहुराष्ट्रीय कम्पनियों तथा भूमाफियाओं के खिलाफ एक सामान्य किसान के संघर्ष की कहानी है। जिसमें बाजार तथा उपभोक्तावाद के बंधनों से मुक्त व्यक्ति के जीवन को अधिक सुखद दिखाया गया है। एक अन्य कहानी 'सपने के ठूंठ पर कोंपल' में बाजारवादी अर्थव्यवस्था से प्रभावित व्यक्ति, पूंजी तथा सत्ता की सांठ - गांठ आदि को लेखक ने समझा तथा समझाया है।

कैलाश वनवासी की कहानी 'बाजार में रामधन' में दलालों की लाख कोशिशों के बाद भी उनके चंगुल से बैलों को बचाते हुए व्यक्ति की कहानी है। नीलाक्षी सिंह की कहानी 'टेकबे तो

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 52

टेक न तो गो' में बाजारवादी संजाल में फंसे व्यक्ति का वस्तु हो जाने तथा पैसे की दौड़ में शामिल होकर मशीन हो जाने के प्रति गहरी चिंता व्यक्त की गई है। राकेश बिहारी की कहानियां 'वह सपने बेचता था', 'और अन्ना सो रही थी' तथा 'बाकी बातें फिर कभी' बाजारवाद, उपभोक्तावाद तथा कॉरपोरेट संस्कृति को प्रस्तुत करती हैं। संजय खाती की 'पिंटी का साबुन', अनुज की 'खूंटा', अरुण कुमार की 'तरबूज का बीज' तथा अशोक कुमार पाण्डेय की 'पागल है साला' बाजारवादी व्यवस्था पर लिखी गई महत्वपूर्ण कहानियां हैं। कविता की कहानी 'नेपथ्य' तथा पंकज सुबीर की कहानी 'छोटा नटवर लाल' में उपभोक्तावाद तथा बाजारवाद का चित्रण है जिसमें बाजार फिल्मी सितारों तथा क्रिकेटरों के माध्यम से वस्तुओं को लोगों के जीवन में स्थापित करती है। पंकज सुबीर की एक अन्य कहानी 'सदी का महानायक उर्फ कूल कूल तेल का सेल्समैन' में भी बाजारवाद तथा विज्ञापन संस्कृति का वर्णन किया है। रचनाकारों ने बाजारवाद के संकटों को पहचानते हुए उसके दुश्चक्र से हमें अवगत करवाया है। पूरी दुनिया को अपने कब्जे में लेने वाली इस व्यवस्था का प्रतिरोध साहित्यकारों ने किया है।

बाजारवादी व्यवस्था में खत्म होते मनुष्य तथा मनुष्यता के प्रति चिंता व्यक्त करते हुए कवयित्री इंदु जैन कहती हैं, "बहुत पास है वह घड़ी/ जब साड़ी त्योहारों पर पहनी जाएगी/ जैसे जापान में किमोनो/ घरों में लोग अकेले - अकेले रहेंगे/ जैसे भीड़ भरे बाजार में/ चीजें और बटुआ/ तब मेरे बच्चे कहां होंगे/ किसे पहचानेंगे?"[1]

अरुण कमल बाजारवादी ताकतों को पहचानते हुए बाजार के माया जाल को उघाड़ते हैं। 'हाट' कविता में कहते हैं, "मेरे पास न पूंजी थी न पाप/ मैं बाट भी न था कि हाट के आता काम...../ लेकिन वहां जहां घर था मेरा घर नहीं था।"[2] अनामिका बाजार के प्रभाव तथा बदलते जीवन के संदर्भ में अपनी कविता 'घूमंतु टेलीफोन' में कहती हैं, "अधुनातन बाजारों के ही समानांतर/ सजे हुए हैं मुझमें/ हाट पुराने मीना बाजार।"[3] हेमंत कुकरेती 'चांद पर नाव' संग्रह की

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 77

[2] वही, पृष्ठ - 77

[3] अनामिका, खुरदुरी हथेलियां, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 12

कविता 'आंख' में कहते हैं, "बाजार को दूर से देखने पर भी/ लगता है डर/ मेरा घर तो बाजार के इतने पास है/ कि उजड़ी हुई दुकान नजर आता है।"[1]

बाजारवादी साहित्य तथा विमर्श को हिंदी आलोचकों कमल नयन काबरा, अरुण त्रिपाठी, रमेश उपाध्याय, रामशरण जोशी, आनंद प्रकाश, मैनेजर पाण्डेय, विजय कुमार, परमानंद श्रीवास्तव, शम्भुनाथ, वीरभारत तलवार, पुरुषोत्तम अग्रवाल, अजय तिवारी, अवधेश प्रधान, कृष्णमोहन, प्रणय कृष्ण, गोपाल प्रधान, आशीष त्रिपाठी, वैभव सिंह, मृत्युंजय सिंह आदि ने ठीक से समझा है तथा उसकी व्याख्या की है।

बाजारवाद एक प्रभुत्वशाली विचारधारा बनती जा रही है ऐसे में लेखन तथा आलोचना इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। साहित्य तथा कला मानव के श्रम से पैदा होने वाली चीजें हैं। मनुष्य जिस चीज से प्रभावित होता है उसका रंग उसके द्वारा रचित लेखन में साफ तौर पर दिखाई देता है। उदारीकरण के लिबास में आवारा पूंजी शेयर बाजारों को लुढ़काने के साथ - साथ हमारी अभिव्यक्ति और विचार की दुनिया में भी घुसपैठ कर रही है। साहित्य, समाज, संस्कृति कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जहां बाजार की उपस्थिति न हो, "उत्तर आधुनिकता के लगभग सभी समर्थकों का बाजार की शक्तियों से कोई विरोध नहीं, बल्कि, मजाकिया व लोकप्रिय किस्म की शैली में वह बाजार की बड़ाई करने में अपना वक्त खर्च करते हैं।"[2]

बाजारवाद परोक्षतः तथा सूक्ष्मता से साहित्य पर हमला करता है। वह साहित्य को अपने हितों के लिए इस्तेमाल करना चाहता है ऐसे में साहित्यकारों की स्वायत्तता तथा स्वतंत्रता ही उन्हें बाजार से लड़ने की शक्ति प्रदान कर सकती है। बाजारवादी खतरे को पहचान कर उसके विरोध की हिम्मत सचेत तथा संवेदनशील साहित्यकार ही कर सकता है। बाजारवाद के खतरों की शिनाख्त करके उसका प्रतिरोध करने की दरकार हिंदी साहित्य से की जा सकती है। क्योंकि "बाजार की

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 78

[2] वही, पृष्ठ - 47

चाल हो या पूंजी का शोषण, सत्ता की क्रूरता हो या धर्म के नाम पर फैलाई जा रही सांप्रदायिकता, रचनाकारों ने इनका विरोध किया ही है, पाठकों को भी सचेत किया है।"[1]

बाजारवादी व्यवस्था की हमेशा कोशिश रहती है कि किस तरह सृजक की बुद्धि पर नियंत्रण किया जाए, "सर्जक की सफलता के प्रति, हर किस्म के लालच के प्रति, जो एक किस्म की निर्लिप्तता होती है, फक्कड़ी होती है, बाजार उसे खत्म करने की कोशिश करता है। उसके तिलिस्म का सारा दारोमदार इस बात पर टिका है कि वह सर्जक को कितना भ्रष्ट कर पाता है, सर्जक की सृजनात्मकता को कितना मनोनुकूलित कर पाता है।"[2] बाजार के इस शिकंजे में कई बार लेखक न चाहते हुए भी फंस जाता है और अपनी ईमानदारी से लेखन करने की बजाय बाजार की मांग के अनुसार रचना का उत्पादन करने लगता है। यह बाजार का ही प्रभाव है साहित्यिक रचनाओं में किसानों की आत्महत्या का सवाल उतना मुखर नहीं है जितनी चर्चा न्यू यार्क के वर्ल्ड ट्रेड टावर पर हुए हमले या चमचमाते शोरुम की है। बाजारवाद के संकटों को समझकर तथा इसका प्रखर विरोध करके ही साहित्यकार रचनात्मक मूल्यों तथा मानवीय संवेदना को बचा सकता है। इस संदर्भ में आनंद प्रकाश का कहना है कि "'आज' के विरोध में खड़ा होना और 'कल' की वैकल्पित संभावना को रेखांकित करना आज साहित्य के लिए जरुरी है।"[3]

परिकथा के युवा आलोचना विशेषांक में अरुण होता के लेख 'बाजार और साहित्यः एक आलोचकीय कथोपकथन' में समकालीन रचनाकारों (विशेषकर कविता तथा कहानी के रचनाकार) द्वारा बाजारवाद, उपभोक्तावाद तथा पूंजीवाद के प्रभाव तथा परिणाम को समझने वाली रचनाओं का मूल्यांकन किया गया है। कविता की बाजार संबंधी चिंता को समझते हुए अरुण होता कहते हैं, "भूमण्डलीकरण और बाजारवाद के दौर में मनुष्य उपभोक्ता बनकर रह गया है। यह समकालीन कविता की अंतर्वस्तु है। बाजार और समाज में मनुष्य विलुप्ति के कगार पर है। रचनाकार की बड़ी चिंता है यह।"[4] रचनाकार के दायित्व निर्वाह को रेखांकित करते हुए अरुण

---

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 76

[2] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, बाजारवाद और नई सृजनशीलता, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 26

[3] वही, पृष्ठ - 20

[4] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 79

होता कहते हैं, "बाजार ने युद्धों का काल निर्मित किया है, धार्मिक उन्माद को बढ़ावा दिया है, सत्ता को अपनी दासता स्वीकार करने के लिए विवश किया है। सबसे बड़ी बात है कि संवेदनाओं को क्षरित किया है, मानवता का गला घोंटा है। समकालीन रचनाकार इसे समझता है।"[1]

रचनाकार बाजारवाद के प्रभावों के प्रति गम्भीर हैं, लगातार बाजार की गतिविधियों पर नजर रखते हुए उसकी क्रूर चालों के प्रति सचेत करते हैं। बाजारवादी आलोचना रचनाकार की इस भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहती है, "हम सभी उपभोक्तावाद के शिकार बन रहे हैं या बन चुके हैं। बाजार के एकाधिकार के सामने घुटने टेक चुके हैं। बाजार अपनी बर्बरता दिखा रहा है और उसे हम कबूलते जा रहे हैं। रचनाकार इस बिडंबना को रुपायित करने का प्रयास कर रहा है।"[2]

4.2.3 बाजारवाद साहित्य एवं आलोचना के प्रमुख मुद्दे

बाजारवादी साहित्य तथा आलोचना ने बाजारवाद के फैलाव के सभी साधनों पर अपनी दृष्टि डाली है। उपभोक्तावाद, संचार प्रौद्योगिकी, इंटरनेट तथा सोशल मीडिया, विज्ञापन आदि बाजार के वाहक हैं, जिन पर सवार होकर बाजारवादी विचारधारा लोगों के दिमागों को कब्जाने का काम करती है। इन्हीं विषयों की शिनाख्त आलोचकों ने की है।

भूमण्डलीकरण को बाजारवाद के जनक के रूप में देखा जा सकता है, भूमण्डलीकरण के कारण आई नई आर्थिक नीतियों ने उपभोक्तावाद को बढ़ावा दिया है। जिस पर आलोचकों की प्रतिक्रिया प्रकट होती रही है। विनोद दास लिखते हैं कि "भूमण्डलीकरण की तेज आंधी के चलते नयी आर्थिक नीति और उदारीकरण ने देश के नब्बे प्रतिशत नागरिकों को बट्टे खाते में डाल दिया है और दस प्रतिशत नागरिकों को बाजार के लिए एक लोभी उपभोक्ता में बदल दिया है।"[3] बहुराष्ट्रीय कम्पनियां पूरी दुनिया के मौलिक स्वाद को बदलने में लगी हुई हैं। खूबसूरत उपहार देकर ठगे जा रहे लोगों को राजेश जोशी अपनी कविता में सचेत करते हुए कहते हैं, "आज के दौर में बाजार ने अपनी स्थानीयता खोकर वैश्विक रूप पा लिया है विश्व बाजार की वस्तुएं सर्वत्र पहुंच

---

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 78

[2] वही, पृष्ठ - 81

[3] पी. रवि. (सम्पा.), कविता का वर्तमान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 147

रही हैं। बिजली, सड़क, शिक्षा आदि से वंचित गांवों में भी 'ग्लोबल मार्केट' की वस्तु बेची जा रही है।"[1]

बाजारवाद के चलते मध्यवर्गीय उपभोक्ता संस्कृति का जो विस्तार हुआ है उसे आलोचकों ने ठीक से समझा है, "उपभोक्तावाद का साहित्य पर सबसे घातक असर तो यह है कि लोग साहित्य के प्रति उदासीन हो रहे हैं। टेलीविजन और विदेशी चैनलों ने लोगों का सारा समय ले लिया है। लोग साहित्य के प्रति उदासीन ही नहीं हो रहे बल्कि सनसनीखेज, उत्तेजक और सस्ते साहित्य की मांग बढ़ रही है।"[2] यह उपभोक्तावाद बहुत विस्तृत है जो केवल आर्थिक शोषण ही नहीं करता सांस्कृतिक शोषण भी करता है, "बाजार प्रसूत उपभोक्तावाद न केवल आर्थिक - भौतिक शोषण कर रहा है, बल्कि सांस्कृतिक - आत्मिक शोषण भी कर रहा है।"[3]

बाजार सुंदरता के टापू बनाता है और सच की बजाय मुग्ध करने और वाहवाही कराने को ही अपना लक्ष्य मानकर आगे बढ़ता है। बाजार के फैलाव ने जिस उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ावा दिया है उसके संदर्भ में विजय कुमार लिखते हैं कि "वस्तुओं के उपभोग की जीवन - शैली ने हमारे समय में एक असामान्य किस्म के सुखवाद को फैलाया है। वस्तुओं की तरफ एक बदहवास दौड़ है। वस्तुओं के प्रति यह पूजा - भाव अब जीवन के सारे पहलुओं का प्रतिनिधित्व करने लगा है।"[4] व्यक्ति सुविधापूर्ण जीवन के लिए लड़ रहा है। बोधिसत्व ने लिखा है, "आजादी के लिए रोने से बेहतर है/ सुविधा - भरे तहखाने के लिए रोना।"[5]

पिछले सालों में सूचना प्रौद्योगिकी जिसका बहुत तीव्र गति से विस्तार हुआ है। तकनीक जहां एक तरफ मनुष्य को भौतिक रूप से सम्पन्न बना रही है वहीं दूसरी तरफ उसे भावनात्मक रूप से अपंग बना रही है। सूचना प्रौद्योगिकी के काम को आसान बनाता है मीडिया। जो लोगों के दिमाग को नियंत्रित करने का काम करता है। न्यूज चैनल, सिनेमा, धारावाहिक, रियल्टी शो समाज

---

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 76

[2] हरिचरण राय (सम्पा.), परिवेश पत्रिका, अंक अप्रैल - दिसम्बर 1996 में 'रेगिस्तान में भटकते हिरण' लेख से

[3] डा. सुभाष चन्द्र, हरियाणा की कविता जनवादी स्वर, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 95

[4] विजय कुमार, अंधेरे समय में विचार, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पृष्ठ - 105

[5] बोधिसत्व, हम जो नदियों का संगम हैं, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली,पृष्ठ - 18

पर सांस्कृतिक नियंत्रण करके उसकी सोच को बाजार के अनुकूल बनाने का काम करते हैं। आज के समय में मीडिया के वर्चस्वशाली रूप को एडोर्नो का संदर्भ लेते हुए विजय कुमार कुछ इस तरह से व्याख्यायित करते हैं, "आज के इस युग में जनता के मनोजगत का सांस्कृतिक नियंत्रण और उसका अनुकूलन व्यापक आर्थिक गतिविधियों का ही एक हिस्सा है। वास्तविकता यह है कि तमाम तरह की लोकप्रिय सांस्कृतिक गतिविधियां, पूंजी और शक्ति केंद्रों के एकाधिकारवादी वर्चस्व के लिए रास्ता साफ करती हैं फिल्में, रेडियो, टेलिविजन और पत्र - पत्रिकाएं एक ऐसी व्यवस्था को बनाने का काम करती हैं जो हमें सार्वभौमिक, एकरूप और संपूर्ण प्रतीत हो। ऐसा सांस्कृतिक उद्योग एक व्यापक जनसमाज में छलावे और प्रपंच की भूमिका ही अदा कर सकता है। आज के समय के संकट का मूल इस बात में है कि जन समाज पर एक प्रकार का निरंकुश वर्चस्व स्थापित किया जा रहा है।"[1] हर तरह के असंभव काम करने वाली सूचना प्रौद्योगिकी मानवीय संबंधों तथा संवेदनाओं को समझने में नाकाम है। सोशल मीडिया एक तरह से बाजार का सांस्कृतिक दूत है, जो सनसनीखेज सूचनाएं प्रेषित करता है। इंटरनेट के जरिए आज सोशल मीडिया हरेक की जेब में पहुंच चुका है और बाजार इस सोशल मीडिया के माध्यम से ही विज्ञापनों का जाल फेंककर ग्राहकों को अधिक से अधिक लुभाता है।

विज्ञापन जो रात - दिन हम पर कुछ खास छवियों की बरसात करता रहता है। हम जानते हैं कि इन चिन्हों - छवियों का उत्पाद के साथ कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। लेकिन अब सचमुच कोई इसकी चिंता भी नहीं करता। विज्ञापन - जगत में हजारों विशेषज्ञ इन छवियों का निरंतर निर्माण कर रहे हैं, "पिछले दो दशकों में जिस तरह से उपभोक्तावाद फैला है, उसने वस्तु की तुलना में विचार को गौण बना दिया है। विज्ञापन तंत्र निरंतर हमारे स्नायु तंत्र पर हावी होता रहा है।"[2] वे हमारी इच्छाओं, जीवन - शैलियों और व्यवहारों को एक खास आकार देने के विशेषज्ञ हैं। इस तरह मीडिया और उसकी छवियां वे तरीके हैं जिनसे बाजार - संस्कृति हमारी जिंदगियों को नियंत्रण में लेती है, "टेलीविजन पर आज हर पल, हर घड़ी वस्तुओं के विज्ञापन देखे जा रहे हैं। फिर सुपर

[1] विजय कुमार, अंधेरे समय में विचार, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पृष्ठ - 57

[2] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 45

बाजार या शॉपिंग - माल में उन्हें खरीदा जा रहा है। इनका उपभोग मनुष्य के मन में एक अलग तरह की सामूहिकता का बोध जगा रहा है। लेकिन यह कैसी सामूहिकता है? यह सामूहिकता मनुष्य की तार्किक चेतना, परिस्थिति संज्ञान और मूलभूत नैतिक सरोकारों से जुड़ी हुई नहीं है।.....आज यह एक सपाट किस्म की सामूहिकता है। संस्कृति बाजार में बिकने वाले टूथपेस्ट की तरह है। सार्वजनिक जीवन के बड़े - बड़े कलाकार, लोकप्रिय फिल्म सितारे, प्रसिद्ध खिलाड़ी - ये सब जो कौम के अवचेतन में किन्हीं मूल्यों, किन्हीं सफलताओं, किन्हीं उपलब्धियों के मूर्तरूप (आइकन) हैं, वे सुपर बाजार में किन्हीं वस्तुओं के ब्रांड बन गए हैं। इनकी आदमकद छवियां वस्तुओं के बीच से झांकती रहती हैं।"[1]

बाजार स्त्री को एक अभियान के तहत उपभोग की वस्तु के रूप में पेश करता है। बाजार सभी तरह के विज्ञापनों में स्त्री देह का प्रयोग करके ग्राहक को लुभाने का प्रयास करता है। जिन वस्तुओं से स्त्री का दूर - दूर तक कोई वास्ता ना हो उनको बेचने के लिए बाजार स्त्री देह को इस तरह से प्रस्तुत करता है कि वस्तु कम और स्त्री देह अधिक नजर आती है। अनीता वर्मा की कविता 'इस्तेमाल' में स्त्री की इसी स्थिति का चित्रण है, "अब बाजार स्त्री के कदमों में है/ उसके केश सहलाता उतारता कपड़े/ सामान चाहे कोई भी हो बेची जाती है/ हमेशा स्त्री।"[2]

बाजार की जरुरत के अनुसार आविष्कृत शिक्षा क्षेत्र में नए - नए संधानों में ज्ञान की बजाय सूचनाओं का स्थान अधिक है। आज वही व्यक्ति ज्यादा शक्तिशाली तथा समझदार माना जाता है जिसके पास अधिक - से - अधिक सूचनाएं हों। बाजार द्वारा परिचालित मीडिया में हमारे लिए सूचनाओं का अम्बार उपलब्ध है जो हमारी जरुरतों को नजर अंदाज करके दुनिया - जहान की सही गलत सूचनाएं पेश करता है। राजेश जोशी अपने काव्य संग्रह 'चांद की वर्तनी' में 'हमारे समय के बच्चे' शीर्षक कविता में कहते हैं कि 'यह सूचनाओं का समय है/ सूचनाओं में तब्दील हो रहा है ज्ञान/ यहां तक कि सच भी अब सिर्फ एक सूचना है।' इंटरनेट के विस्तार ने इस परिभाषा को पुख्ता किया है लेकिन सवाल यह है कि कौन सा ज्ञान। बाजारवादी व्यवस्था में यह ज्ञान सूचना

[1] विजय कुमार, अंधेरे समय में विचार, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पृष्ठ - 106

[2] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 77

का निमित मात्र है समझ का नहीं। अंग्रेजी तथा कम्प्यूटर ने सारा ज्ञान कब्जा रखा है, ज्ञान की सीमित परिभाषाएं बन रही हैं। ज्ञान कोई उद्योग नहीं है ना ही मुनाफा कमाने के लिए है। ज्ञान किसी की निजी सम्पत्ति नहीं है और न ही शोषण का साधन बल्कि यह तो बेहतर समाज के निर्माण का साधन है। मनुष्य की प्रतिभा है, उसकी जीविका का साधन है। सबकी मुक्ति तथा शक्ति का स्रोत है। लेकिन बाजारवादी व्यवस्था में ज्ञान को निजी शक्ति के रूप में प्रयोग करके शोषण के औजार के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है, "विचार की जगह सूचना ने ले ली। सूचना आज के बाजार से जुड़ने का माध्यम है, इसीलिए रचना और आलोचना दोनों में सूचनाएं बहुत होती हैं।"[1]

बाजारवाद व्यक्ति की सार्थकता की बजाय सफलता को अधिक महत्व देता है और इसके लिए चकाचौंध पैदा करता है। बाजारवादी संस्कृति के पास पैसा, प्रचार के साधन तथा ग्लैमर ऐसी चीजें हैं जो एक सामान्य व्यक्ति को लुभाने के लिए काफी हैं। सफलता को सर्वोपरी मूल्य की तरह स्थापित करके ही वह हमें सफलता की दौड़ में शामिल कर सकता है। साहित्य पर इसका पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है, "सृजनशीलता पर बाजारवाद का दबाव शायद इतना अधिक है कि इन क्षेत्रों में सक्रिय कई लोग जीवन की सार्थकता से अधिक महत्व व्यावसायिक सफलता को देने लगे हैं। इससे सृजनशीलता निजी और सीमित उद्देश्यों वाली होकर रह जाती है और सृजनशील लोग ज्यों - ज्यों बाजार की अंधी शक्तियों की अधीनता स्वीकार करते जाते हैं, त्यों - त्यों उनकी सृजनात्मक स्वतंत्रता कम होती जाती है।"[2] सफलता के शार्टकट ईजाद करके बाजारवाद सार्थकता का स्पेस ही खत्म कर देता है।

4.3 पर्यावरण विमर्श

पर्यावरण हमारे जीवन का आधार है इसके मुख्य घटकों भूमि, वायु, जल, जंगल आदि पर निर्भर होकर ही मनुष्य का जीवन चलता है। मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताएं पर्यावरण से ही पूरी होती हैं। मानव के प्रारम्भिक जीवन में प्रकृति उसकी सारी आवस्यकताएं पूरी करती थी लेकिन धीरे - धीरे मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ती गई और प्राकृतिक संसाधनों में कमी आती गई। इन

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 13

[2] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, बाजार और नयी सृजनशीलता, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, प्रस्तावना से

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति पर निर्भरता पर्यावरण के संसाधनों के दोहन में तब्दील हो गई। मार्क्स ने कहा है कि 'प्रकृति के साथ संघर्ष करके मनुष्य आगे बढ़ सकता है।' यह संघर्ष करते - करते मनुष्य ने प्रकृति को अपने वश में कर लिया है और उसका अंधाधुंध दोहन किया है। फलस्वरूप मनुष्य का जीवन संकटग्रस्त हो गया है। प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन से पर्यावरण का ह्रास हुआ है।

4.3.1 पर्यावरण विमर्श: सामान्य परिचय

औद्योगिक क्रांति के साथ ही ऊर्जा के संसाधनों की मांग बढ़ी। इस क्रांति के जनक देशों ने अपने उपनिवेश देशों से ऊर्जा के इन साधनों का दोहन किया। 'सेवन सिस्टर्स आयल कम्पनी' जैसी कम्पनी बनाकर यूरोपीय देशों ने मध्य - पूर्व के देशों से ऊर्जा प्राप्त की। उनका नारा था 'कंट्रोल नेचर' मतलब प्रकृति को वश में करना तथा प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करना। इस सोच ने प्रकृति तथा मनुष्य के बीच के सहजीवी संबंध को खत्म किया। इस संबंध के टूटने से प्राकृतिक संतुलन बिगड़ा जिसके आत्मघाती परिणाम हमारे सामने हैं। एक तरफ जहां प्राकृतिक संसाधनों में कमी आती जा रही है वहीं दूसरी तरफ पर्यावरण प्रदूषण तथा असंतुलन बढ़ता जा रहा है। जलवायु परिवर्तन तथा पृथ्वी का तापमान बढ़ने जैसी गम्भीर समस्याओं से मानव जूझ रहा है।

पश्चिमी देशों में 1960 के दशक में ही खत्म होते प्राकृतिक संसाधनों की चिंता बढ़ने लगी थी। वैज्ञानिकों ने 'ग्रीन मूवमेंट' तथा 'ग्रीन डवलपमेंट' जैसी चीजें शुरु करके विकास की पूंजीवादी अवधारणा को चुनौती दी। वैकल्पिक तथा टिकाऊ विकास की अवधारणाओं की जरुरत महसूस की जाने लगी। पर्यावरणवादी आंदोलनकर्ताओं पूंजीवादी विकास की आलोचना करते हुए इसे मानव की सभ्यता, संस्कृति तथा पृथ्वी को विनाश की ओर ले जाने वाला विकास माना।

उदारीकरण की नीतियों के तहत बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को स्थापित किया जा रहा है। जो विकास के नाम पर खेती की उपज बढ़ाने का लालच देकर किसान को पेस्टीसाइडस की गिरफ्त में ले रही हैं। कीटनाशकों के अनावश्यक प्रयोग से एक तरफ जहां फसलों के मित्र कीट खत्म होते जा

रहे हैं वहीं पर्यावरण प्रदूषण भी बढ़ता जा रहा है। मनुष्य ने स्वयं ही अपने 'इको सिस्टम' को पूरी तरह तबाह कर लिया है, "पर्यावरण संकट मुख्यतः जैववैविध्यों का संकट और सामाजिक संकट के रूप में दृश्यमान है। औद्योगिकरण के बावजूद नयी - नयी कृषि योजनाएं एवं नए उद्योगों के आरम्भ के लिए जंगलों एवं कृषिभूमियों को तहस नहस करने से संसार के जैववैविध्य के अधिकांश भाग गायब हो गये। इसी वजह से प्राकृतिक संतुलन को नुकसान हुआ। अनावृष्टि, सूखा, बढ़ता भौमताप जैसे जलवायु में आये परिवर्तन जैववैविध्य के नाश और पेट्रोल, कोयला आदि के सीमातीत प्रयोग की उपज है।"[1] जमीन में पेड़ों की जगह इमारतें उगने लगी हैं, शानदार फर्नीचर तथा दिखावे की चीजों के लिए जंगलों को खत्म किया जा रहा है। बदलती जीवनशैली में पानी का असीमित प्रयोग, बेपरवाह धुआं उगलती गाड़ियां तथा कुकुरमुतों की तरह उगती फैक्ट्रियां प्रकृति की कब्र पर खड़ी हो रही हैं। वातावरण में कच्ची फसलों तथा फूलों की महक की जगह धुएं, कूड़े तथा तेलों की बदबू फैल रही है। पक्षियों की चहचाहट की जगह मशीनों का शोर सुन रहा है। गांधी जी ने कहा था, "नेचर हैज़ इनफ फॉर एवरीबडीज नीड बट नोट फॉर एवरीबडीज ग्रीड"[2] मनुष्य के इसी लालच का परिणाम आज उसे भुगतना पड़ रहा है। पर्यावरण प्रदूषण से जीवन पर संकट बढ़ता जा रहा है। पशु - पक्षियों तथा मनुष्यों का जीना दुभर हो रहा है। लोग नए - नए रोगों से ग्रस्त हो रहे हैं। जैसे पंजाब में पेस्टीसाइडस के अत्यधिक प्रयोग से पिछले सालों में कैंसर के रोगियों की संख्या बढ़ी है।

पर्यावरण के बिगड़ते संतुलन के कारण ही पिछले वर्षों में सूखा, बाढ़, बेमौसमी बरसात, पहाड़ों का टूटना - खिसकना, बादल फटना, भूकम्प, सुनामी, तुफान आदि बढ़े हैं जो जीवन को तबाह कर रहे हैं। बेमौसमी बरसात, बर्फ की आंधियां, बढ़ती गर्मी, हुदहुद, अलनीनो, सुनामी, हिम स्खलन आदि प्राकृतिक तबाही से जुड़े शब्द हैं। जलवायु परिवर्तन के कारण तेजी से पिंघलते ग्लेशियरों के कारण पहले तो नदियों में बाढ़ आएंगी और बहुत जल्द वे सूख जाएंगी। समुद्र के बढ़ते जलस्तर के कारण बहुत सारे द्वीप डूब जाएंगे।

---

[1] के. वनजा, साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 100

[2] वही, पृष्ठ - 80

जलवायु परिवर्तन की समस्या किसी एक क्षेत्र या देश की समस्या नहीं है बल्कि यह पूरे विश्व की समस्या है। पर्यावरण ह्रास के संकट से सभी देशों तथा क्षेत्रों के लोग जूझ रहे हैं। एक बहस पर्यावरणवादियों में शुरु से ही चल रही है कि पर्यावरण का मुद्दा स्थानीय होना चाहिए या भूमण्डलीय। एक मत इसे स्थानीय मानता है तथा दूसरा भूमण्डलीय। दोनों के अपने अलग - अलग तर्क हैं। देखा जाए तो पर्यावरण की कुछ समस्याएं स्थानीय हैं जबकि कुछ भूमण्डलीय, और दोनों के समाधान भी इसी आधार पर खोजे जाने चाहिए। मार्क्स के अनुसार, "प्रकृति कभी अकेले एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि आर्थिक उत्पादन में मिलकर काम करने वाले मनुष्यों का सामना करती है। इसी तरह एक व्यक्ति भी प्रकृति का सामना नहीं करता, बल्कि समाज के द्वारा संगठित रूप में उसका सामना करता है।"[1] इतनी सारी समस्याओं के बावजूद पर्यावरण के बचाव के सवाल विकास के नाम पर गौण हो जाते हैं। पर्यावरण को बचाने के लिए इस पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन होते हैं, जिसमें पर्यावरण को बचाने की बजाय सभी देश अपने आपको तथा अपने विकास के मॉडल को बचाने की कवायद अधिक करते हैं।

पर्यावरण को बचाने तथा जीवन को रोगमुक्त बनाने के लिए जैविक खेती, जैव संशोधित बीजों तथा जैविक खादों का प्रयोग बढ़ा है। बाजार में दैनिक प्रयोग के लिए जैविक चीजें आने लगी हैं। स्वास्थ्य के प्रति सचेत होकर लोग खाने - पीने के शुद्धिकरण की पद्धतियों को अपनाने लगे हैं, जिसके चलते आर. ओ. का प्रयोग बढ़ा है। समय - समय पर पर्यावरण को बचाने के लिए विश्वस्तर पर अनेक सम्मेलन हुए हैं। 2009 में डेनमार्क के शहर कोपेनहेगन में जलवायु सम्मेलन, 2011 में दक्षिण अफ्रिका के डरबन शहर में पर्यावरण सम्मेलन तथा 2015 में पेरिस में हुआ जलवायु सम्मेलन प्रमुख हैं। लेकिन पर्यावरण को बचाने के लिए विश्वस्तर पर जो प्रयास किए गए हैं उनमें विकसित तथा विकासशील दोनों ही देशों की सकारात्मक भूमिका नजर नहीं आती। जिसका प्रभाव पर्यावरण आंदोलनों, कार्यकर्ताओं तथा पर्यावरण की समस्याओं पर लिखने - बोलने वालों पर पड़ रहा है।

[1] पंकज विष्ट (सम्पा.), समयांतर, नरेश कुमार का लेख, फरवरी - 2012, पृष्ठ - 27

नष्ट होती प्रकृति को बचाने के लिए बहुत से लोगों ने समय - समय पर तथा निरंतर स्वतंत्र आंदोलन चलाएं हैं। पर्यावरण संबंधी इन आंदोलनों में चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन (मेधा पाटेकर ने 1985 में 'नर्मदा बचाओ' आंदोलन शुरु किया।), चिलका झील बचाओ आंदोलन मुख्य हैं। अरुंधति राय ने 1999 में 'रैली फार दी वैली' अभियान चलाया। 'जलपुरुष' राजेन्द्र शर्मा द्वारा राजस्थान में 'जल बचाओ' आंदोलन चलाया जा रहा है। आज के दिन भी जल बचाने के लिए तथा प्रदुषण रोकने के लिए अनेक आंदोलन चल रहे हैं।

भारत डोगरा का मानना है कि पर्यावरण आंदोलन को व्यापक रूप देकर ही पर्यावरण का संरक्षण किया जा सकता है लेकिन यह इसलिए नहीं हो पा रहा क्योंकि इसका जन - आधार व्यापक नहीं है, "भूमण्डलीय स्तर पर पर्यावरण के आंदोलन का जन - आधार इस कारण व्यापक नहीं हो सका है कि इसमें न्याय तथा समता के मुद्दों का उचित ढंग से समावेश नहीं हो पाया है। दुनिया की आधी से अधिक जनसंख्या अपनी बुनियादी जरुरतों को भी ठीक से पूरा नहीं कर पाती है। लोगों से बार - बार केवल यह कहना कि पेट्रोल और गैस के या विशेष तरह के उत्पादों के उपयोग को कम करना है, एक तरह से अर्थहीन है, क्योंकि वे तो रोटी - कपड़ा - मकान जैसी बुनियादी जरुरतों को भी ठीक से पूरा नहीं कर पा रहे हैं। पर्यावरण रक्षा और जलवायु परिवर्तन की इस पूरी बहस में उनके लिए क्या है?"[1] देश की गरीब जनता को इससे जोड़ने के लिए उनके मुद्दों को शामिल करना बेहद जरुरी है इस संदर्भ में रामचंद्र गुहा भारत के पर्यावरण को 'गरीबों का पर्यावरणवाद' कहते हैं। क्योंकि यह गरीबों के पेट भरने का साधन है।

जलवायु परिवर्तन की समस्या से निपटने के लिए इसमें न्याय तथा समता के मूल्यों का समावेश जरुरी है। इस आंदोलन से लोगों की बुनियादी जरुरतों को पूरा करने की योजना को जोड़ना होगा। तभी लोगों को गरीबी तथा अभाव से राहत मिल सकती है और आंदोलन को भी व्यापक जनसमर्थन तभी मिलेगा, "औद्योगिक एवं तकनीकी विस्फोट के कारण जहां बहुमुखी विकास की संभावना का द्वार खुले हैं, वहीं विध्वंस और विनाश की आशंका भी उसी अनुपात में

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (सम्पा.), पूंजीवादी विकास और पर्यावरण आंदोलन, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 27

सिर उठाने लगी है। अनेक प्राकृतिक एवं मानवीकृत आपदाएं आज हमारे सामने हैं। दोनों प्रकार की आपदाएं प्रश्नचिन्ह बनकर फन उठाए खड़ी हैं और उन्हें हल करना एक बड़ी चुनौती है।"[1] पर्यावरण के ह्रास को रोकने तथा जीवन को बचाने के लिए ग्रीनहाऊस गैसों के उत्सर्जन को कम किया जाना चाहिए। अधिक से अधिक पेड़ लगाकर वनों को विकसित किया जाना चाहिए।

4.3.2 पर्यावरण संबंधी साहित्य एवं आलोचना

साहित्य निर्माण के लिए मनुष्य का बचा रहना जरुरी है और मनुष्य के लिए बचा रहना जरुरी है प्रकृति का। क्योंकि गर पेड़ - पौधे, पशु - पक्षी, हवा - पानी ही नहीं होगा तो कहां मनुष्य होगा और कहां साहित्य। प्राकृतिक संसाधनों से ऊपजे पर्यावरण संकट ने साहित्यकारों को प्रभावित किया और साहित्य में एक नया विमर्श उभरा।

पर्यावरण ह्रास से जीवन पर आए संकट की चिंता साहित्य में अभिव्यक्त हुई है। संस्कृत साहित्य में जो प्रकृति साहित्य का आधार थी, भक्तिकाल और रीतिकाल में आलंबन तथा उद्दीप्पन का साधन बनी। आधुनिक काल में पर्यावरण ह्रास के कारण प्रकृति के बारे में चिंता व्यक्त की जाने लगी। लहलहाती फसलों, झूमते वृक्षों, बहती नदियों के दृश्य की जगह आज साहित्य में फसलों के नष्ट होने, पेड़ों के कटने और नदियों के सूखने की चिंता है। प्रसाद की कामायनी में भीषण बाढ़ से पृथ्वी का विनाश, पर्यावरण पर मंडरा रहे खतरे की ओर इशारा है। अज्ञेय ने 'हरी घास पर क्षणभर' में प्रकृति के विरुद्ध मानव की कृत्रिमता को उद्घाटित किया है। त्रिलोचन प्रकृति के प्रति प्रेम व्यक्त करते हुए उसके ह्रास के प्रति चिंतित है। मनुष्य द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन को कवि 'नदीः कामधेनु' में चित्रित करता हुआ कहता है, "नही ने कहा थाः मुझे बांधो/ मनुष्य ने सुना और/ आखिर उसे बांध लिया/ बांधकर नदी को/मनुष्य दुह रहा है।/अब वह कामधेनु है।"[2]

---

[1] लीलाधर मंडलोई (सम्पा.), नया ज्ञानोदय, अंक - 148, जून 2015, पृष्ठ - 48

[2] के. वनजा, साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 45

हिंदी के रचनाकारों ने रोज बनती बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के फलस्वरूप फैलते प्रदूषण, बिगड़ते पारिस्थितिक तंत्र तथा लुप्त होते जीव - जंतुओं के प्रति अपनी रचनाओं में चिंता व्यक्त की है। विष्णुचंद्र शर्मा की कविता 'आख्यान' में सूखी नदी की उदासी तथा उसके सूखने का दुख व्यक्त हुआ है, "सूखी नदी ने/ न अपना दिल खोला/ न उदासी का बताया आख्यान/ बस, पत्थरों से बोलती रही/ बस अपना हाड़मास देखती रही/ मैंने कहा, 'नदी। मेरा दुख तुमसे छोटा है।"[1]

ज्ञानेंद्रपति ने नदियों में बढ़ते प्रदूषण तथा इसके दुष्प्रभावों का उल्लेख कविता में किया है। गंगा नदी के प्रदूषण को लेखक न केवल प्राकृतिक बल्कि सांस्कृतिक प्रदूषण भी मानता है। 'तुम्हारे लिए नहीं बची है कोई पवित्र नदी/ तुम्हारी सारी नदियां अपवित्र हो गई हैं - विषाक्त।' नदियों के प्रदूषण के साथ - साथ नदियों के किनारे बदलते दृश्यों तथा सांस्कृतिक बदलावों के प्रति कवि ने गहरी चिंता व्यक्त की है। गांवों के शहरों में तब्दील होने तथा उनकी मौलिकता नष्ट हो जाने को कवि ने 'गांव का घर और मिट गए मैदानों वाला गांव' शीर्षक कविता में व्यक्त किया है। नदियों के बदलते रूप तथा उनके स्वच्छ, साफ नदियों से गंदे नालों में परिवर्तित होना लेखकों को प्रभावित करता है। नदी को गंदा करने की हद को वीरेन डंगवाल अपनी कविता 'विद्वेष' में प्रकट करते हैं, "यह बूचखाना की नाली है/ इसी से होकर आते हैं नदी के जल में/ खून चरबी, रोयें और लोथड़े।"[2]

अरुण कमल पर्यावरण ह्रास तथा इसके प्रभावस्वरूप मानव जाति पर आने वाले संकटों को लेकर चिंतित है। आधुनिक होते मनुष्य द्वारा अपनी जरुरतें पूरी करने के लिए लगातार किए जा रहे दोहन को वे पर्यावरण के लिए खतरा मानते हैं। 'इक्कीसवीं शताब्दी की ओर' शीर्षक कविता में कवि विकास की ओर उन्मुख मानव द्वारा नष्ट की जाने वाली चीजों के स्वरूप का चित्रण करता है। मानव लगातार परमाणु परिक्षण कर रहा है। नए - नए वैज्ञानिक अविष्कार करके एक ही झटके में पृथ्वी को नष्ट करने की शक्ति पैदा कर रहा है। कवि इसे 'दुःस्वप्न' कविता में चित्रित करता है।

---

[1] लीलाधर मंडलोई (सम्पा.), नया ज्ञानोदय, अंक - 148, जून - 2015, पृष्ठ - 48

[2] के. वनजा, साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 46

स्वप्निल श्रीवास्तव दूषित होती तथा रोज मरती पृथ्वी को बचाना चाहता है। पृथ्वी को बचाने के लिए कवि 'भूमि को बचाने के लिए' तथा 'पृथ्वी के लिए प्रार्थना' शीर्षक कविताएं लिखता है। कवि आने वाली पीढ़ियों के लिए पृथ्वी को सही - सलामत बचाना चाहता है और इसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। लुप्त होते वन्य जीवों विशेषकर हाथी की चिंता उनकी कविता 'इक्कीसवीं शताब्दी में हाथी' में व्यक्त हुई है।

धरती को बचाए रखने का प्रयत्न उदय प्रकाश ने अपनी कविता के माध्यम से किया है। उदय प्रकाश लुप्त होती चिड़िया तथा पहाड़ियों को अपनी स्मृति में बचाए हुए हैं। 'अर्जी' शीर्षक कविता में कवि अतीत हो चुके इन दृश्यों को बार - बार याद करता है। रसायनों के बढ़ते प्रयोग के खतरों से कवि हमें अवगत करवाता है। 'पंजाब कुछ कविताएं' में कवि ने बताया है कि पंजाब में कीटनाशकों तथा रसायनों के अंधाधुंध प्रयोग से अकेले पंजाब में ही कितने भोपाल बन चुके हैं। इस स्थिति पर सवाल उठाते हुए कवि कहता है, "कुल मिलाकर कितने यूनियन कार्बाइड हैं/ पंजाब में?/ बताओ प्रार्थना करते लोगों के फेफड़ों में/ कितना मिथाइल आइसोसायनेट हैं?/ बताओ/ पंजाब में/ कितने भोपाल हैं।"[1]

विकास के नाम पर हुए त्वरित औद्योगीकरण तथा यंत्रिकरण ने मनुष्य को समेट दिया है। बहुमंजिला इमारतों तथा पुलों के निर्माण के लिए जंगलों, नदियों को नष्ट कर दिया गया है। वीरेन डंगवाल नष्ट हुई नदी के अभाव में पुलों को बेकार मानते हुए अपनी कविता में कहते हैं, "कितने अभागे हैं वे पुल/ जो सिर्फ गलियारे हैं/ जिनके नीचे से गुजरती नहीं/ कोई नदी।"[2]

मनुष्य के जीवन में यांत्रिकता के प्रवेश ने उसे कृत्रिम बना दिया है। कम्प्यूटर आधारित युग में वह अपनी संवेदनाएं खोता जा रहा है। कम्प्यूटर पर निर्भर मनुष्य की क्षमता पर कवि चंद्रकांत देवताले सवाल खड़े करता है, "अब तो मस्तिष्क है कम्प्यूटर के पास भी/ कविता लिख देगा कम्प्यूटर एक दिन/ पर क्या वसन्त/ या चिड़िया/ अथवा स्तनों से झरता झरना/ सम्भव है कभी

[1] उदय प्रकाश, रात में हारमोनियम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 83

[2] वीरेन डंगवाल, दुष्चक्र में स्रष्टा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 19

कम्प्यूटर के गर्भ से भी।"[1] एक अन्य कविता 'सांप सीढ़ी का खेल' में कवि प्रकृति की गोद में बिताई बचपन की स्मृतियों को याद करता है तथा प्रकृति के ह्रास को लेकर दुखी हो जाता है।

हिंदी के गद्य साहित्य में प्रकृति की सुंदरता के मनोरम दृश्य तथा पर्यावरण के ह्रास की चिंता शामिल रही है। प्राकृतिक बदलाव के साथ बेरोजगारी, विस्थापन तथा तालाबों के सूखने के कारण उत्पन्न हुए जलसंकट की चिंता अनुपम मिश्र की पुस्तक 'आज भी खरे हैं तालाब' में प्रकट हुई है। पर्यावरण के बिगड़ते संतुलन तथा उसे बचाने के परम्परागत तरीकों का उल्लेख उनकी पुस्तक 'साफ माथे का समाज' में हुआ है। मिश्र जी का मानना है कि विकास नामक शब्द का आज दुरुपयोग हो रहा है, इस शब्द ने ही पर्यावरण का सबसे अधिक विनाश किया है।

टिहरी बांध परियोजना को आधार बनाकर लिखा गया वीरेंद्र जैन का उपन्यास 'डूब' बांधों के दुष्परिणाम तथा आम जनता पर इसके असर को उद्घाटित करता है। शहरों के लिए विद्युत उत्पादन के लिए बनाए गए बांधों से कितने ही हरे - भरे खेत नष्ट होते हैं तथा लोग विस्थापित होने को मजबूर होते हैं। बांध बनाने से खेती - बाड़ी, पशुपालन प्रभावित होता है नतीजतन बेरोजगारी की समस्या बढ़ती है और प्राकृतिक संतुलन बिगड़ता है, इन्हीं सब चीजों की चर्चा लेखक ने इस उपन्यास में की है। विकास के नाम पर लोगों को गुमराह तथा प्रकृति से छेड़छाड़ करने वालों को उपन्यासकार ने चेताया है।

नासिरा शर्मा का उपन्यास 'कुइयांपन' जल तथा नदियों की समस्या पर केन्द्रित है। जल की लड़ाई आज व्यक्ति से लेकर देशों तक में चल रही है। लेखिका भौतिक विकास के कारण प्रकृति तथा मनुष्य की घटती परस्परता को पर्यावरण ह्रास का प्रमुख कारण मानती है। खत्म होते जल स्रोतों को बचाने तथा पानी को प्रयोग करने की कला सीखने पर लेखिका जोर देती है। जीवन में नदियों की भूमिका का चित्रण उपन्यास में भली - भांति किया गया है।

संजीव मानव जीवन की समस्याओं पर केन्द्रित रचनाओं के लिए जाने जाते हैं। इनके दो उपन्यास 'धार' तथा 'सावधान नीचे आग है' पर्यावरण प्रदूषण के प्रति चिंता व्यक्त करते हैं। 'धार'

[1] चंद्रकांत देवताले, भूखण्ड तप रहा है, संभावना प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 14 - 15

उपन्यास में बांसबाड़ा गांव में तेजाब का कारखाना खुलने के फलस्वरूप जलते पेड़ - पौधों, फसलों यहां तक की मनुष्यों की स्थिति का वर्णन लेखक ने किया है। तेजाब के कारखाने की जहरीली हवा से जंगल मुरझा गए हैं, फसलें सूख गई हैं, लोग भयानक रोगों से पीड़ित हो रहे हैं। 'सावधान नीचे आग है' कोयला खदान पर आधारित उपन्यास है। चंदनपुर में अंग्रेजी शासन में प्रारम्भ हुए कोयला खदान में 1916 से 1954 तक आग लगी रहती है, जिसमें कितने ही लोग जलकर मर जाते हैं, गांव वालों का जीना मुहाल हो जाता है। एक अन्य उपन्यास 'जंगल जहां शुरु होता है' में संजीव जंगल तथा जनजातियों की सुरक्षा का सवाल उठाते हैं।

सुभाष पंत का उपन्यास 'पहाड़ चोर' पहाड़ों की चोरी तथा जंगलों की कटाई करने वाले देशी पूंजीपतियों का पर्दाफाश करता है। प्राकृतिक संपदा की लूट की राजनीति का खुलासा सुभाष पंत बेबाकी से करते हैं। 'झंडूखाल' नामक पहाड़ी गांव में पहाड़ की लूट तथा उत्पात के खिलाफ विद्रोह का उपन्यास है। देश की तरक्की के नाम पर पहाड़ी लोगों के पहाड़ तथा जीवन को छीन लेने की साजिश को पहचानकर लेखक ने विरोध दर्ज किया है। उजड़ते गांव तथा त्रस्त लोगों को बचाने के लिए वहां के कुछ लोग आंदोलन करते हैं जो पर्यावरण को बचाने का एक अच्छा संकेत है।

रणेंद्र का 'ग्लोबल गांव के देवता' पहाड़ के खनन तथा प्रभावित आदिवासी जीवन पर केन्द्रित उपन्यास है। मनमोहन पाठक का 'गगन घटा घहरानी', भगवानदास मोरवाल का 'काला पहाड़', तेजन्दर का 'काला पादरी', श्री प्रकाश मिश्र का 'बांस फूलते हैं' आदि पर्यावरण ह्रास तथा आदिवासी जीवन पर केन्द्रित उपन्यास हैं। इसके अलावा मैत्रेयी पुष्पा का 'इदन्मम', उदयप्रकाश का 'पीली छतरी वाली लड़की', संजीव का 'रह गई दिशाएं इसी पार', अलका सरावगी का 'एक ब्रेक के बाद', मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब' आदि उपन्यास अप्रत्यक्ष रूप से पर्यावरण के प्रति चिंता व्यक्त करते हैं।

उपन्यासों की भांति हिंदी कहानी में भी पर्यावरण का सवाल उठा है। राजेश जोशी की कहानियां 'कपिल का पेड़' तथा 'मैं हवा पानी परिंदा कुछ नहीं' में मनुष्य तथा प्रकृति की

परस्परता तथा विकास के नाम पर पर्यावरण ह्रास के संकटों पर चर्चा करती हैं। मनुष्य तथा प्रकृति की बदलती स्थिति को ये कहानियां रेखांकित करती हैं।

स्वयं प्रकाश की कहानियां 'बली' तथा 'कहां जाओगे बाबा' में शहर में तब्दील होते गांव तथा खत्म होते जीवन मूल्यों के कारण उत्पन्न हुई समस्याओं को व्यक्त करती हैं। पहाड़ी प्रदेश पर रचित संजीव की 'आरोहण' कहानी जीवन के उतार - चढ़ावों की कहानी है जिसमें प्रकृति प्रदत्त कौशल को प्रशिक्षण से बेहतर बताया गया है।

पर्यावरण के ह्रास तथा इसके बचाव का मुद्दा पिछले कुछ समय से साहित्य में उठने लगा है। लेकिन पर्यावरण का सवाल साहित्य का केन्द्रीय सवाल नहीं बन पाया है। यह देखने की जरुरत है कि यह सवाल कितना तथा कितनी गुणवत्ता के साथ साहित्य में उपस्थिति बना पाया है।

हिंदी साहित्य की भिन्न - भिन्न विधाओं में पर्यावरण के संदर्भ में जो उल्लेख मिलता है उसकी थाह काफी हद तक हिंदी आलोचकों ने ली है। स्थापित आलोचकों के साथ - साथ नए उभरते आलोचकों ने पर्यावरण केन्द्रित लेखन तथा लेखन की समीक्षा दोनों किया है, लेकिन यह समीक्षा छिट - पुट लेखों में ही अधिक हुई है। पारिस्थिकी पर केन्द्रित रचनाओं की समीक्षा सुनीता नारायण, अरुंधती राय, भारत डोगरे, के. वनजा आदि ने की है। रमेश उपाध्याय, मैनेजर पाण्डेय, रोहिणी अग्रवाल आदि पारिस्थितिक तंत्र तथा साहित्य में इसकी मौजूदगी को खोजने वाले आलोचक हैं।

के. वनजा की 'साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन' पर्यावरणवादी आलोचना की महत्वपूर्ण पुस्तक है। जिसमें लेखक ने हिंदी के पुराने तथा स्थापित लेखकों की रचनाओं में प्रकृति के अलग - अलग रुपों को इस संदर्भ में व्याख्यायित किया है। लेखक ने रविंद्रनाथ टैगोर, अज्ञेय, प्रेमचंद आदि के साहित्य में पर्यावरणीय मुद्दों की उपस्थिति को रेखांकित करते हुए समकालीन लेखन में हुए उसके विकास तथा गम्भीरता का नोटिस लिया है। समकालीन हिंदी कविता तथा कथासाहित्य में पर्यावरण ह्रास के कारणों तथा उसके प्रभाव को लेखक ने बारीकि से खोजा है।

भूमण्डलीकरण के बाद आई नीतियों तथा उसके पर्यावरण पर प्रभाव को आलोचकों ने समझा है तथा समय - समय पर इस पर आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। रणेंद्र के उपन्यास पर टिप्पणी करते हुए रोहिणी अग्रवाल कहती हैं, "रणेंद्र ने 'ग्लोबल गांव के देवता' उपन्यास में विस्तार से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के रूप में उभरे नवऔपनिवेशिक साम्राज्य की सर्वभक्षी 'भूख' को चित्रित किया है। विडंबना यह है कि देश की राजनीतिक प्रभुसत्ता अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं/बैंकों से ऋण लेने के लिए अनहोनी को नजरअंदाज करने के लिए बाध्य है।"[1]

4.4. साम्प्रदायिकता

साम्प्रदायिकता ने समाज के साथ - साथ साहित्य को भी प्रभावित किया। साम्प्रदायिकता से प्रभावित तथा चिंतित साहित्यकारों ने इसे अपने लेखन में उतारा है। साम्प्रदायिकता के बढ़ते प्रभाव को साहित्यकारों ने गहराई से महसूस किया तथा उसे व्यक्त भी किया है। भारत की सांझी परम्पराओं तथा धर्मनिरपेक्षता पर मंडरा रहे साम्प्रदायिक खतरे को साहित्यालोचना ने बखूबी पहचाना है तथा इस पर अपनी चिंता जाहिर की है। साम्प्रदायिकता के विकारों को आलोचकों ने स्पष्ट तौर पर रेखांकित किया है।

4.4.1 साम्प्रदायिकता: सामान्य परिचय

सम्प्रदाय अंग्रेजी के Community शब्द का पर्याय है, जिसे समुदाय भी कहते हैं। सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग धार्मिक संदर्भ में किया जाता है। धर्म संबंधी मत या मत के अनुयायियों के समूह को सम्प्रदाय कहते हैं। इतिहासकार विपिन्न चन्द्रा साम्प्रदायिकता को एक मिथ्या विचार मानते हुए कहते हैं कि "साम्प्रदायिकता एक मिथ्या विचारधारा है, लेकिन जहां विचारधारा का विकास नहीं होता वहां झूठी विचारधारा ही उस रिक्त की पूर्ति करती है। यह यथार्थ का विकृत डिस्टोर्टिड और भ्रष्ट पर्वस रिफ्लेक्शन है।"[2]

---

[1] रोहिणी अग्रवाल, समकालीन हिंदी उपन्यास और पारिस्थिकीय संकट, गद्यकोश से 11.5.2016

[2] विपिन्न चन्द्रा, कम्युनलिज्म इन माडर्न इंडिया, विकास पब्लिकेशसन्ज, दिल्ली, पृष्ठ - 79 - 80

विश्वनाथ प्रसाद चौधरी के अनुसार "सम्प्रदायवाद मूलतः राज्य - व्यवस्था में एक प्राथमिक एवं निर्णयात्मक समूह के रूप में किसी समुदाय के प्रति राजनीतिक निष्ठा की एक विचारधारा है।"[1]

प्रभुत्वशाली वर्ग के लिए साम्प्रदायिकता एक ऐसी अवधारणा है जो एक ही धर्म से संबंध रखने वाले लोगों के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक हितों को एक समान मानती है। जबकि वास्तव में ऐसा होता नहीं है, एक धर्म से संबंध रखने वाले लोगों के राजनैतिक एवं आर्थिक संबंध बिल्कुल भिन्न या शत्रुतापूर्ण भी हो सकते हैं। साम्प्रदायिक शक्तियां अपने वर्गीय हितों को समूचे समुदाय के सामूहिक हितों के रूप में प्रस्तुत करती है।

प्रभु - वर्ग के लिए उपयोगी तथा जनसाधारण के लिए तकलीफदेह साम्प्रदायिकता का बर्बर रूप बाबरी - मस्जिद विध्वंस (1992) तथा 2002 के गुजरात दंगों में सामने आया। धीरे - धीरे साम्प्रदायिकता की इस समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया। बहुत धीरज और मेहनत से अर्जित हमारी एकता अब खण्डित होती जा रही है। साम्प्रदायिक शक्तियां वर्गीय पहचान को सम्प्रदाय की पहचान के रूप में पेश करती हैं तथा वर्ग - संघर्ष को सांप्रदायिक संघर्ष के रूप में। साधारण जन के दिमाग में साम्प्रदायिक जहर उतार दिया गया है, "दुष्प्रचार से यह लोगों की सामान्य चेतना का हिस्सा बना दी गई है। आम लोग ऐसी प्रतिक्रिया देते हैं जो साम्प्रदायिकता को मान्यता देती है। उनको इसमें कुछ भी गलत नहीं लगता, सबसे चिन्ता की बात यही है कि इसे धर्म - प्रेम, राष्ट्र - प्रेम व संस्कृति - प्रेम व इतिहास - प्रेम के नाम पर पेश करते हैं।"[2] गौर किया जाए तो, "साम्प्रदायिकता एक राजनैतिक दृष्टिकोण है जिसमें यह माना जाता है कि एक धार्मिक समुदाय के सभी लोगों के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व धार्मिक हित एक जैसे होते हैं।"[3] जबकि, "भारतीय समाज कई ऐसे सम्प्रदायों में बंटा हुआ है जिनके हित न सिर्फ अलग हैं, बल्कि एक - दूसरे के विरोधी भी हैं।"[4] असगर अली इंजीनियर साम्प्रदायिकता को आधुनिक युग की

---

[1] विश्वनाथ प्रसाद चौधरी, भारत में साम्प्रदायिकता, आरिएंट पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृष्ठ - 11

[2] डा. सुभाष चन्द्र, साम्प्रदायिकता, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 7

[3] वही, पृष्ठ - 9

[4] विपिन चन्द्रा, साम्प्रदायिकताः एक प्रवेशिका, नेसनल बुक ट्रस्ट इंडिया, दिल्ली, पृष्ठ - 3

घटना मानते हैं। उनके अनुसार, "साम्प्रदायिकता एक आधुनिक परिघटना है जो दो प्रमुख सम्प्रदायों के अभिजात वर्ग के बीच राजनैतिक सत्ता और आर्थिक प्रतिस्पर्धा के कारण पैदा हुई है।"[1]

साम्प्रदायिक शक्तियों का उद्देश्य मात्र सत्ता में ज्यादा से ज्यादा हिस्सेदारी ही नहीं है बल्कि ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना भी इनका उद्देश्य रहा है, "पचास के दशक के दौरान कोई साम्प्रदायिक तनाव नहीं था, पर 1962 में जबलपुर में साम्प्रदायिक दंगे ने देश को हिला दिया। जबलपुर दंगा हिन्दू और मुस्लिम बीड़ी - निर्माताओं के बीच आर्थिक प्रतिस्पर्धा का परिणाम था।"[2] और साथ ही, "अलीगढ़ में ताला - उद्योग और मुरादाबाद में तांबा उद्योग की प्रतिस्पर्धा के कारण तनाव पैदा हुआ।"[3]

विपिन्न चन्द्रा साम्प्रदायिकता को सिर्फ उपनिवेशवाद के अस्त्र के रूप में ही नहीं देखते बल्कि उनका मानना है कि प्रतिक्रियावादी शोषक वर्ग अपने हितों की पूर्ति के लिए साम्प्रदायिकता को एक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करता है। साम्प्रदायिकता के विकास का कारक वे प्रतिक्रियावादी शक्तियों को मानते हैं, "इन सबसे बढ़कर महत्वपूर्ण बात यह है कि साम्प्रदायिकता आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी सामाजिक राजनीतिक शक्तियों, अर्ध सामंती जमींदारों तथा भूतपूर्व अधिकारी तंत्र तथा औपनिवेशिक सत्ताधारियों के अस्त्र के रूप में विकसित हुई।"[4]

4.4.2 साम्प्रदायिकता संबंधी साहित्य एवं आलोचना

साम्प्रदायिकता को लेकर साहित्यकार इसके उदय से ही संवेदित रहे हैं। साम्प्रदायिकता के कारणों, विचारधारा, प्रभावों को साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में समग्रता से अभिव्यक्त किया है। साम्प्रदायिकता की मजबूती पर कमजोर होते मनुष्य को साहित्य ने सहारा दिया है। संकीर्णता

[1] असगर अली इंजीनियर, भारत में साम्प्रदायिकताः इतिहास और अनुभव (अनुदित - सुभाष चन्द्र), इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 46
[2] वही, पृष्ठ - 17
[3] वही, पृष्ठ - 133
[4] विपिन्न चन्द्रा, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता का विकास, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, पृष्ठ - 606

तथा नफरत के खिलाफ हिंदी साहित्य अपनी संपूर्ण शक्ति बटोर कर खड़ा होता है। साहित्य साम्प्रदायिकता के मनुष्यता विरोधी रूप को पहचान कर सचेत तौर पर उसकी खिलाफत करता है। साहिय में सआदत हसन मंटो, यशपाल, भीष्म साहनी, राही मासूम रजा, मोहन राकेश, की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए कृष्णा सोबती, नासिरा शर्मा, शिवमूर्ति, वी. एन. राय, कमलेश्वर, दूधनाथ सिंह, भगवानदास मोरवाल, अलका सरावगी, विवेकी राय आदि ने साम्प्रदायिकता के विभिन्न पहलुओं को विभिन्न दृष्टिकोणों से चित्रित किया है। इनके साहित्य में न केवल साम्प्रदायिक राजनीति की सोच के प्रति चिंता है बल्कि साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने वाले तथ्यों की खोज का प्रयास है। साम्प्रदायिक संकीर्णता का अस्वीकार तथा विरोध इनकी रचनाओं में मौजूद है।

कमलेश्वर के उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' में साम्प्रदायिक विमर्श को केन्द्र में रखकर उस पर विस्तृत चर्चा की गई है। सम्पूर्ण भारतीय इतिहास के सूक्ष्म विवेचन के साथ लेखक ने राजनीतिक स्वार्थों के फलस्वरूप हुए देश विभाजन पर सवाल खड़े किए हैं। भारत विभाजन के कारणों को उपन्यासकार अंग्रेजी साम्राज्यवाद में खोजता है जिसमें साम्प्रदायिक नीतियों को प्रश्रय दिया गया। भारत के विभाजन को साम्प्रदायिक नीति का परिणाम मानते हुए कमलेश्वर कहते हैं, "अंग्रेजों की सौदागर कौम के हाथों पांच हजार साल पुराना यह महादेश अपने इतिहास में पहली बार विभाजन का शिकार हुआ।"[1] लेखक चाहते हैं कि दुनिया में साम्प्रदायिक सौहार्द पैदा होना चाहिए ताकि रोज बनते पाकिस्तानों की परम्परा बंद हो।

'काला पहाड़' उपन्यास के लेखक भगवानदास मोरवाल समकालीन समय में देश में उपजी साम्प्रदायिकता की भावना से चिंतित हैं। देश की शांत तथा भोली - भाली जनता के दिलों में साम्प्रदायिकता का जहर घोलने वाली राजनीतिक ताकतों के कारण कथाकार बेचैन है। साम्प्रदायिक सौहार्द से परिपूर्ण मेवात जैसे अंचल में भी राजनैतिक स्वार्थों के लिए साम्प्रदायिक माहौल का निर्माण किया जा रहा है जो लेखक के लिए असहनीय है, "इस अंचल में हिंदू और

[1] कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, पृष्ठ - 272

मुसलमान एक परिवार की तरह रहते आए हैं और उनमें कभी भी कोई साम्प्रदायिक झगड़ा नहीं हुआ।"[1]

'कलि - कथाः वाया बाइपास' में अलका सरावगी ने राम जन्मभूमि के मसले को मुख्य रूप से उठाया है। साम्प्रदायिक वातावरण निर्माण करने वाली राजनैतिक प्रक्रिया को समझने का प्रयास उपन्यासकार ने किया है। लेखिका उपन्यास में साम्प्रदायिकता का सीधे तौर पर विरोध करती है और चाहती है कि राजनैतिक लालसाओं के लिए सांस्कृतिक धरोहर को उजाड़ा ना जाए, "उपन्यास धर्मांध शक्तियों की कटु आलोचना कर एक प्रतिरोधी स्वर उपस्थित कर एक ऐसी दुनिया तामीर करना चाहता है जहां मानव - मात्र के लिए प्रेम हो।"[2]

राम जन्मभूमि के विवाद के बाद उपजे भय तथा आतंक के माहौल को व्यक्त करता है विवेकी राय का उपन्यास 'मंगल भवन'। राजनेताओं द्वारा योजनाबद्ध तरीके से करवाए गए दंगों का नुकसान हमेशा आम जनता ही उठाती है। सरकार की कूटनीति को लेखक अच्छी तरह पहचानते हुए कहता है, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि स्वयं सरकार ही इस प्रकार अशांति और गड़बड़ी कराती है ताकि समस्यात्मक जटिलता पैदा हो और शांति तथा समाधान के लिए लोग उसके पास चिल्लाते हुए आएं..... यदि वह ऐसा न करे, कोई समस्या न रहे तो सरकार किसलिए?"[3] लेखक चाहता है कि लोग सरकार पर आश्रित न रहकर अपने विवेक से काम ले तो देश को साम्प्रदायिकता से मुक्त करके 'मंगल भवन' बनाया जा सकता है।

साम्प्रदायिकता ने कहानीकारों को काफी हद तक प्रभावित किया है। हिंदी में सुधा अरोड़ा की कहानी 'काला शुक्रवार' मुंबई में हुए बम विस्फोट के बाद एक वर्ग में पैदा हुए खौफ (मुस्लिम परिवारों में) तथा दूसरे वर्ग की असंवेदनशीलता को दर्शाती है। धर्म तथा साम्प्रदायिकता के गठजोड़ को आधार बनाकर लिखी गई प्रहलादचंद्र दास की कहानी 'मंदिर का मैदान' धर्म के नाम पर लोगों को लड़वाने की कुटिल चालों का पर्दाफाश करती है। असगर वजाहत की कहानी 'मैं

---

[1] भगवानदास मोरवाल, काला पहाड़, राधाकृष्म प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 16

[2] पुष्पपाल सिंह, भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 251

[3] विवेकी राय, मंगल भवन, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 490

हिंदू हूं' साम्प्रदायिक दंगों के प्रभावस्वरूप टूटते सामाजिक ताने - बाने का वर्णन करती है। ये कहानियां दंगों की भयावहता से ज्यादा उनसे प्रभावित भयग्रस्त अल्पसंख्यकों की स्थिति का वर्णन करती हैं, "ये कहानियां इस सच्चाई को दर्शाती हैं कि इस दौर का साम्प्रदायिक तनाव महज दो धार्मिक समुदायों के बीच आम तौर पर होने वाले हिंसक झगड़े का परिणाम नहीं था बल्कि साम्प्रदायिक फासीवाद की उस हिंसक मुहिम का नतीजा था जो अल्पसंख्यकों के विरुद्ध भय और आतंक का माहौल पैदा कर उनके नागरिक अधिकारों को ही नहीं मनुष्य के रूप में जीने के अधिकारों को भी छीन लेती है।"[1] प्रगतिशील वसुधा में छपी विमल चंद्र पाण्डेय की कहानी 'सोमनाथ का टाइम - टेबल' जाति और धर्म के गठजोड़ के परिणाम में साम्प्रदायिकता को देखती है। राकेश दूबे की कहानी 'नया मकान', मज्कूर आलम की 'बस यहां तक', जिनेश साह की 'चमक धूप की', प्रियदर्शन की 'खोटा सिक्का' आदि कहानियां समाज में व्याप्त कट्टरता को उद्घाटित करती हैं।

साम्प्रदायिकता की पृष्ठभूमि को आधार बनाकर हिंदी कवियों ने अनेक कविताएं लिखी हैं, जो धार्मिक कट्टरता तथा उन्माद से उपजे भय तथा त्रासदी को सीधे तौर पर व्यक्त करती हैं। साम्प्रदायिकता से प्रभावित तथा इसके विरोध में लिखी गई रचनाओं में विशेष तौर से कुंवर नारायण की कविता 'एक अजीब - सी मुश्किल' तथा बोधिसत्व की कविता 'पागलदास' है, पागलदास अयोध्या का पखावज - वादक था। कविता में पागलदास की उदासी मनुष्यता की जुबान बनी। असद जैदी की कविता 'जो देखा नहीं जाता' साम्प्रदायिकता के जाल में फंसे व्यक्ति की मनःस्थिति का खाका पेश करती है। जयपाल की कविता 'लक्कड़ - बग्घा' में राजनीति तथा न्याय तंत्र की लाचारगी दिखाई गई है जिसके चलते साम्प्रदायिक लक्कड़बग्घा चुन - चुनकर जनता को मार रहा है और देशभक्ति का तमगा पा रहा है। साम्प्रदायिकता का यह लक्कड़बग्घा, "किसी की पकड़ में नहीं आता/ राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री या सुप्रीम कोर्ट - सब इससे डरते हैं/ यह सारा काम योजनाबद्ध तरीके से करता है..... धर्मस्थल इसके सुरक्षित खेत हैं/ यह राष्ट्र की

[1] जवरीमल्ल पारख, आधुनिक हिंदी साहित्यः मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ - 239

बात करता है/ राष्ट्रवासियों पर हमला करता है/ धर्म की बात करता है/ और दंगों में शामिल हो जाता है..... संतों का चोला पहनता है/ और लक्कड़बग्घा हो जाता है।"[1] मंगलेश डबराल की कविता 'गुजरात के एक मृतक का बयान' कविता दंगों में आम आदमी के पिसे जाने को व्यक्त करती है, "मैं तो रंगता था कपड़े ताने - बाने रेशे रेशे/ मरम्मत करता था टूटी - फूटी चीजों की/ गढ़ता था लकड़ी की हिंडोले और गरबा के रंगीन डांडिए..... मेरे जीवित होने का कोई बड़ा मकसद नहीं था/ और मुझे मारा गया इस तरह जैसे मुझे मारना कोई बड़ा मकसद हो.....।"[2] साम्प्रदायिकता के दौरान बने डर के माहौल को राजेश जोशी की कविता 'मेरठ 87' उजागर करती है।

साम्प्रदायिकता विरोधी साहित्य तथा आलोचना द्वारा सांझी संस्कृति की अपनी पहचान को स्थापित करने का प्रयास जारी है। साम्प्रदायिक सद्भाव एवं मानव एकता के संदर्भ में आलोचक तथा चिंतक हिंदी के मध्यकालीन लेखन की व्याख्या भी इस आधार पर करने लगे हैं। वर्चस्वशाली वर्ग की क्रूरता, पाखण्ड तथा आडम्बरों का खुलकर पर्दाफाश करने वाले कबीर को हिंदू मुस्लिम एकता के प्रहरी के रूप में देखा जाने लगा है। राजनैतिक, आर्थिक हितों के लिए आपस में नफरत फैलाने वालों को रोकने वाले गालिब तथा नानक के योगदान को रेखांकित किया जाने लगा है। साम्प्रदायिकता विरोधी चिंतन व्यक्ति को सजग तथा संवेदनशील बनाने पर बल देता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही देश का विभाजन हुआ तथा धर्म के आधार पर बंटवारा हुआ, दो देश बने। साम्प्रदायिक दंगे हुए जिसने भारतीय जनमानस को झकझोर दिया। आबादियों का विस्थापन हुआ, शहर उजड़ गए, हजारों लोग मारे गए, लाखों लोग बिछुड़ गए। इतनी बड़ी त्रासदी से साहित्य तथा साहित्यकारों पर व्यापक असर पड़ा। यूरोप में हुए युद्धों की त्रासदी जिस तरह वहां के साहित्य को लम्बे समय तक प्रभावित करती रही उसी तरह हिंदी के साहित्यकारों तथा चिंतकों

[1] जयपाल, दरवाजों के बाहर, आधार प्रकाशन, पंचकूला, पृष्ठ - 83 - 84

[2] अजेय कुमार (सम्पा.), उद्भावना, अंक - 103, पृष्ठ - 81

को विभाजन ने प्रभावित किया और इसी कारण उनकी रचनाओं में बार - बार विभाजन की त्रासदी की चीख सुनाई देती रही है। 1984 में दिल्ली में हुआ सिख दंगा, 1992 में बाबरी विध्वंश, 2002 में गुजरात का गोधरा काण्ड, 2014 में मुज्जफरनगर दंगा आदि विभाजन के बाद साम्प्रदायिकता के नए रूप रहे। इन दंगों से साम्प्रदायिकता का स्वरूप बदला जो साहित्य में नए रूप में व्यक्त होने लगा।

साहित्य की रचना की तरह ही उसकी व्याख्या में विभाजन बार - बार आया है। आलोचकों तथा इतिहासकारों ने साम्प्रदायिकता की तह में जाकर साहित्य की व्याख्या की है। साम्प्रदायिक दंगों के लिए जिम्मेदार परिस्थितियों, कारणों तथा इनसे उत्पन्न भय, आतंक तथा नैराश्य को जिस रूप में रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है उसका वैज्ञानिक दृष्टि से मूल्यांकन आलोचना ने किया है। 'हिंदी उपन्यास का इतिहास' पुस्तक में लेखक ने साम्प्रदायिकता पर आधारित उपन्यासों की दृष्टि का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि "हिंदी उपन्यासकार साम्प्रदायिक सोच और भावना की दृष्टि से उदार, मानवीय तथा प्रजातांत्रिक मूल्यों से परिचालित हैं।"[1]

प्रियदर्शन की कहानी 'खोटा सिक्का' की बाबरी - विध्वंश के संदर्भ में समीक्षा करते हुए राकेश बिहारी कहते हैं, "इन घटनाओं के बाद भारतीय समाज में हुए परिवर्तनों - प्रतिक्रियाओं का बारीक विश्लेषण करते हुए अल्पसंख्यक समाज की अनकही पीड़ा, उसकी जद्दोजहद और किसी एक के बहाने पूरे समाज पर लगा दिए गए प्रश्न चिन्ह से उत्पन्न भय मिश्रित असमंजस और उन सब के बीच एक खास किस्म के असुरक्षाबोध को उद्घाटित करती है।"[2] साम्प्रदायिकता पर लिखी गई कविता की आलोचना में कहा गया है कि "साम्प्रदायिकता के बरक्स कविता में इसकी मुखालफत जरुरी भी थी और अपरिहार्य भी और यह कहना होगा कि हमारे कवियों ने यह भूमिका निभाई भी पूरी ताकत से। एकांत श्रीवास्तव की 'दंगे के बाद' हो, बोधिसत्व की 'पागलदास', या पवन करण की 'मुसलमान लड़के' या फिर गोधरा के बाद लिखी गई निरंजन श्रोत्रिय की कविता

[1] गोपालराय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 438

[2] शंकर (सम्पा.), परिकथा,अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 94

'जुगलबंदी'। इस दौर के लगभग सभी कवियों ने साम्प्रदायिकता के विरोध में बेहद सशक्त कविताएं लिखी हैं।"[1]

हिंदी आलोचक नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'जमाने से दो - दो हाथ' में साम्प्रदायिकता पर विस्तृत विचार - विमर्श किया है। साम्प्रदायिकता तथा राष्ट्रवाद के संबंध को समझते हुए धर्मनिरपेक्षता की भूमिका पर विचार किया गया है। फासीवाद का सौंदर्यशास्त्र, फासिस्ट हिंदुत्व और प्रगतिशील विचारधारा तथा फासीवादी भूमण्डलीकरण के दौर में सस्कृति के स्वरूप पर चर्चा है। भूमण्डलीकरण के प्रभाव में साम्प्रदायिकता के बदलते रूप को लेखक ने समझा तथा समझाया है।

4.4.3 साम्प्रदायिकता संबंधी साहित्य एवं आलोचना के प्रमुख मुद्दे

साम्प्रदायिक शक्तियों के प्राण इतिहास, धर्म, संस्कृति, भाषा, राष्ट्र आदि की विकृत व्याख्या में समाए हुए हैं। धार्मिक कट्टरता साम्प्रदायिक उन्माद को बढ़ावा देती है। गोरख पाण्डेय साम्प्रदायिकता को विरोधी समूहों की अवधारणा बताते हुए कहते हैं कि "यह धर्म, नस्ल के आधार पर मानव जाति के विभाजन और विभाजित समूहों की असमानता पर जोर देती है। एकता की जगह भेद, सहयोग की जगह विरोध और सार्वभौमिकता की जगह संकीर्णता इसके मूल तत्व होते हैं। ये सारे तत्व मानव - जाति की पहचान धुंधली करते हैं और उसके अस्तित्व के मूल तत्वों का निषेध करते हैं।"[2]

भारत में साम्प्रदायिक शक्तियां निरंतर अपना घेरा डाल रही हैं। साम्प्रदायिकता स्वतः स्फूर्त घटना नहीं है, समाज में विभिन्न धर्मों के होने से ही साम्प्रदायिकता पैदा नहीं होती साम्प्रदायिकता धर्मों का आपसी झगड़ा नहीं है बल्कि यह कुछ वर्गों के राजनैतिक हितों की टकराहट है जिसमें धर्म का प्रयोग एक औजार के रूप में किया जाता है। साम्प्रदायिकता की आड़ में धर्म की सामाजिक समन्वय की भूमिका को खत्म किया जाता है। धर्म और साम्प्रदायिकता दोनों

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा,अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 100

[2] अभय कुमार दुबे (सम्पा.), साम्प्रदायिकता के स्रोत, गोरख पाण्डेय के लेख 'धर्म, संस्कृति और साम्प्रदायिकता' से, पृष्ठ - 196

का अर्थ तथा स्वरूप पूरी तरह से भिन्न है लेकिन राजनैतिक स्वार्थों के लिए धर्म का प्रयोग उसे साम्प्रदायिक बनाता है, "साम्प्रदायवाद किसी खास धार्मिक समुदाय को ही एकमात्र अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा एवं गतिविधि का समष्टि रूप एवं आधार समझता है। सम्प्रदायवाद एक राज - व्यवस्था तथा एक राष्ट्र के अंदर अन्य धार्मिक समुदायों के प्रत्यक्षतः प्रतिकूल हस्ती के सरूप मे चित्रित करता है, जिसके फलस्वरूप एक दूसरे के प्रति अमैत्रीपूर्ण, वैमनस्यता तथा दुश्मनागत की भावना संगठित करता है। सम्प्रदायवाद एक राजनीतिक अभिमुखता है जो अपनी राजनीतिक निष्ठा की मंजिल धार्मिक समुदाय को समझता है, न कि राष्ट्र या राज्य को। सम्प्रदायवाद एक ऐसी राजनीतिक निष्ठा है, एक ऐसी राजनीति है, जो बहुजातीयता एवं बहुधार्मिक समुदाय से युक्त राष्ट्रवाद के विरुद्ध है।"[1]

धार्मिक समुदाय में निष्ठा एवं सम्बद्धता साम्प्रदायिकता नहीं है, यह धर्म की एक सामान्य प्रवृति है। धर्म दुख, अभाव एवं पराधीनता की शिकार जनता को सुख एवं स्वतंत्रता का अहसास दिलाने का एक काल्पनिक साधन है। असहाय व्यक्ति अपनी वंचित इच्छाएं, उम्मीदें, सपने धार्मिकता में खोजता है। इसीलिए धर्म के नाम पर लोगों में उत्तेजना तथा आवेश आसानी से भरा जा सकता है, उन्हें धर्म की हानि का भय दिखाकर बहुत आसानी से इक्ट्ठा करके दूसरे धर्म या समुदाय से लड़वाया जा सकता है। साम्प्रदायिकता निहित राजनीतिक स्वार्थों के लिए लोगों के धार्मिक विश्वास का शोषण करती है। राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति में धर्म साम्प्रदायिकता का रूप लेता है। जबकि, "धर्म व्यक्ति का निजी मामला है, हर व्यक्ति को यह अधिकार होना चाहिए कि वह किसी भी धर्म अथवा धर्म - पद्धति का अनुसरण करे, किन्तु उसकी धर्म पद्धति किसी दूसरी धर्म पद्धति वाले के आड़े नहीं आनी चाहिए।"[2]

एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म से भिन्न मान्यताएं रखता है तथा दूसरे धर्म की धारणाओं के प्रति संदेह, उपेक्षा तथा नकार का भाव रखता है। इस प्रकार धर्म परस्पर संकीर्णता तथा एकांगीपन के साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को अपनाता है। व्यक्ति इंसान न रहकर हिंदू, मुस्लिम, सिख,

---

[1] विश्वामित्र प्रसाद चौधरी, भारत में साम्प्रदायिकता, आरियंट पब्लिकेशन्ज, दिल्ली, पृष्ठ - 11

[2] रविंद्र शर्मा, बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के हिंदी उपन्यासों में जीवन दृष्टि, के. के. पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृष्ठ - 173

इसाई बन जाता है तथा अपने धर्म की रक्षा के नाम पर घृणा, हिंसा, विद्वेष तथा बर्बरता को उचित ठहराने लगता है। शासक वर्ग इस स्थिति का फायदा उठाकर अपना राजनैतिक उल्लू सीधा करता है।

रमेश उपाध्याय के अनुसार "सांप्रदायिकता विरोधी लेखन में नास्तिकता के बजाय एक सरकारी किस्म का - सा 'सर्वधर्म समभाव' नजर आता है, जबकि सांप्रदायिकता को नास्तिकता की जमीन से ही सही चुनौती दी जा सकती है।"[1] संविधान द्वारा भारत को धर्मनिरपेक्ष देश घोषित किए जाने के बाद भी यहां साम्प्रदायिक विचारधारा का लगातार विस्तार होता जा रहा है। देश में जनवादी, मानवतावादी शक्तियों की उपस्थिति के बावजूद साम्प्रदायिकता व्यावहारिक रूप में मौजूद है।

धर्म तथा संस्कृति के नाम पर राष्ट्रीयता को धर्म के साथ जोड़कर देखा जाता है। धर्म तथा राष्ट्रीयता के इस गठजोड़ से साम्प्रदायिकता का जन्म होता है। प्रेमचंद ने साम्प्रदायिकता को संस्कृति का आवरण ओढ़कर निकलने वाली बताया है, "साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह गधे की भांति है जो सिंह खाल ओढ़कर जंगल के जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, साम्प्रदायिकता संस्कृति की खाल ओढ़कर आती है।"[2] साम्प्रदायिकता राष्ट्र के बहुलतावादी चरित्र को संकीर्णता के दायरे में बांधती है। फलस्वरूप हिंदू राष्ट्र, सिक्ख राष्ट्र आदि की मांग उठती है, "इस काल - खण्ड में वर्ग, वर्ण और धर्म भेद बहुत गहरा हुआ है। समाज की बिल्कुल नई पीढ़ी के पास आकांक्षाओं का कोई नैतिकशास्त्र नहीं है।"[3]

साम्प्रदायिक शक्तियां साम्प्रदायिकता की जड़ें इतिहास में खोजती हैं और इसके लिए इतिहास को तोड़ - मरोड़ कर या तथ्यों को बदलकर पेश किया जाता है। जैसे इतिहास में मुस्लिम शासकों द्वारा हिंदू धर्मस्थलों की तबाही का तो वर्णन है पर यह वर्णन नहीं है कि, "औरंगजेब ने

---

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, बाजारवाद और नयी सृजनशीलता, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 22

[2] सव्यसाची (सम्पा.), उत्तरार्ध, अप्रैल - 1980, पृष्ठ - 8

[3] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 35

बनारस, उज्जैन आदि मंदिरों को जागीर दी थी।"[1] बंटवारे की वजह मुसलमानों को बताया जाता है लेकिन यह नहीं बताया जाता कि, "जब 23 मार्च,1940 को लाहौर में पाकिस्तान प्रस्ताव पारित हुआ तो मुसलमानों ने कोई जोश नहीं दिखाया। दूसरी ओर हजारों अंसारी (जुलाहा) मुसलमानों ने दिल्ली में दो - तीन महीने बाद इसके विरुद्ध प्रदर्शन किया।"[2] साम्प्रदायिकतावादी अपने शासकों की प्रशंसा करते हैं तथा दूसरे सम्प्रदाय के शासकों की आलोचना। शासकों के चरित्र को किसी समुदाय विशेष के चरित्र के रूप में पेश किया जाता है।

साम्प्रदायिक शक्तियां लोगों को गुमराह करने के लिए तरह - तरह की अफवाहें फैलाती हैं, एक - दूसरे धर्म के प्रति भ्रांतियां पैदा की जाती हैं, "मुसलमान चार - चार शादियां करते हैं, इसका लगातार प्रचार करना और यह न बताना कि मुसलमानों में भी पुरुषों की बजाय स्त्रियों की कम संख्या सभी को एकाधिक शादियों की तथ्यात्मक इजाजत नहीं देती, सच के साथ खिलवाड़ करना ही है। हिन्दूस्तान टाइम्स में 27 जून, 1998 को छपे भारतीय सांख्यिकी संस्थान के द्वारा इकट्ठे किए गए तथ्यों के अनुसार 1000 में से 72 गैर - मुस्लिम एक से अधिक शादियां करते हैं। जबकि 1000 में से 15 मुस्लिम एक से अधिक शादियां करते हैं।"[3] इसी तरह से साम्प्रदायिकता भय के वातावरण का निर्माण करते हुए मनुष्य के दिमाग में कुछ बातों को इस तरह से बैठा देती है कि वह उनके सामने निरीह हो जाता है। यह भय और कुंठा ही साम्प्रदायिकता का रूप ग्रहण करते हैं। आर्थिक, सामाजिक असुरक्षा आमजन में असंतोष और गुस्से को पैदा करती है। इस भय के माहौल में उनके दिमाग में एक बात बैठा दी जाती है कि दूसरे समुदाय का विनाश करके ही कोई समुदाय अपने अस्तित्व को बचा सकता है। साम्प्रदायिकता तथ्यों के साथ उसी क्रूरता के साथ खिलवाड़ करती है, जिस क्रूरता के साथ दंगों में बेबसों के जान - माल के साथ।

विपिन्न चन्द्रा साम्प्रदायिकता को फासीवाद का ही दूसरा रूप मानते हैं। जो अपनी जाति तथा सम्प्रदाय के अलग अस्तित्व और श्रेष्ठता चाहता है तथा उसके लिए बल प्रयोग करता है।

---

[1] असगर अली इंजीनियर, भारत में साम्प्रदायिकताः इतिहास और अनुभव (अनुदित - सुभाष चन्द्र), इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ - 11

[2] वही, पृष्ठ - 96

[3] विनय विश्वास, आज की कविता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 73 - 74

इसी से इसका विकास दर्शन या विचारधारा के रूप में होता है। फासीवाद से जन्मी साम्प्रदायिकता का अंत साम्प्रदायिक दंगों तथा आतंकवाद में होता है। परिनियोजित दंगे होते हैं और संवेदनहीनता से बहुत ही बर्बरता के साथ लोगों को मारा जाता है, स्त्रियों के साथ बलात्कार होते हैं।

कहा जा सकता है कि जिस रूप में बाजारवाद, पर्यावरण तथा साम्प्रदायिकता ने आलोचना को प्रभावित किया है उस रूप में किसान प्रभावित नहीं कर पाया है। बाजारवादी तंत्र तथा साम्प्रदायिकता के घिनोने रूप को आलोचना सामने लाती है, पर्ववरण संबंधी मुद्दों पर गम्भीरता से बात करती है लेकिन किसान के संकटों - संघर्षों के प्रति तत्परता यहां दिखाई नहीं देती। आलोचना में किसान के प्रति सहानुभूति तो है पर उसके लिए संघर्ष नहीं। बाजारवाद के फैलाव से खत्म होती मनुष्यता तथा राजनीतिक हितों के लिए फैलाई जाने वाली साम्प्रदायिकता का तीखा विरोध तथा मनुष्यता को बचाने की बेचैनी आलोचना में मौजूद है।

पांचवां अध्याय

उत्तरशती की आलोचना की उपलब्धियां और सीमाएं

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हुए अनेक तीव्रगामी बदलावों ने साहित्य तथा आलोचना को पूर्णतः प्रभावित किया है। जैट युग में प्रत्येक चीज तात्कालिकता की मांग कर रही है, जिस कारण न तो आलोचकों को प्रतिमानों के निर्माण का अवकाश है न विचारधारा के प्रति प्रतिबद्ध रहने का। उदारीकरण - निजीकरण की नीतियों ने सत्ता का स्वरूप बदला है जिसके दबाव में आलोचकों के प्रतिरोध का स्वर कमजोर हुआ है। वैश्वीकरण ने बहुसांस्कृतिकता को जन्म दिया है और उभरते विमर्शों ने भाषायी चिंतन को बदला है। उत्तर - आधुनिकता के प्रभाव में मार्क्सवाद ने लचीला रूख अख्तियार किया है।

5.1 तात्कालिकता का प्रभाव

आज के दौर में रचनाकारों तथा आलोचकों पर देश - विदेश में घटित घटना का तुरंत प्रभाव पड़ रहा है। सोशल मीडिया, ब्लॉग, पेज आदि साहित्यकारों में तात्कालिकता पैदा करने वाले माध्यम हैं। विश्वभर में हुई घटनाओं पर रचनाकारों ने तुरंत अपनी कलम चलाई है तथा आलोचकों ने उस पर प्रतिक्रिया व्यक्त की है। पाकिस्तान के स्कूली बच्चों पर हुए आतंकी हमले हो या शरणार्थियों के विस्थापन की त्रासदी, सबने रचनाकारों को प्रभावित किया है। एजीयन सागर के किनारे मिले बच्चे के शव की घटना ने दुनियाभर के संवेदनशील लोगों को प्रभावित किया। इसी से दुनिया की स्थिति, देशों के आपसी संबंध तथा मानवता पर बहसों ने जन्म लिया। कवि शिवदयाल की कविता की पंक्तियां, "तुम शरणार्थी नहीं मेरे बच्चे/ सब दुनिया की संवेदना/ इतनी सी तुम्हारी निर्जीव देह में/ स्वयं शरण पा रही है।"[1]

तात्कालिकता के प्रभाव में ऐतिहासिक संदर्भों से हटकर किसी भी कृति पर तुरंत टिप्पणी की जा रही है, जो बाद के दिनों में तर्कों के बदलने पर अप्रासंगिक हो जाती है,"किसी समय की

[1] उमा रमण (सम्पा.), देश - विदेश, अंक - 21, सितम्बर - 2015

रचनाशीलता की पहचान तत्काल नहीं हो सकती। तत्काल पुस्तक समीक्षा हो सकती है और वह खूब हो रही है।"[1] रचनाशीलता की पूर्ण पहचान तत्काल सम्भव नहीं है, बल्कि उसके लिए धैर्य चाहिए। इस धैर्य को जैट - युग ने निगल लिया है और प्रतिस्पर्धा के चलते रचनाकार तथा आलोचक सफलता के शॉर्टकट अपना रहे हैं। क्षणिक प्रभाव में फेसबुक, ब्लॉग तथा अखबारों में तुरंत आलोचनात्मक टिप्पणियां की जा रही हैं।

5.2 प्रतिमानीकरण की समस्या

'पिछले पाँच - छह वर्षों में समय - समय पर पत्रिकाओं में मैंने जो टिप्पणियाँ लिखी हैं, यहाँ उन्हें किताब की शक्ल में रख दिया गया है।' आचार्य शुक्ल व उनके समानांतर दूसरे आलोचकों की आलोचनात्मक पुस्तक पर इस तरह की शुरुआती पंक्तियां हमें देखने को कदापि नहीं मिलेगी। तीन - चार दशक से पहले के आलोचक किसी भी कृति का मूल्यांकन योजनाबद्ध तरीके से करते थे। आलोचना लिखने से पूर्व उनके सामने एक उद्देश्य होता था जिसे ध्यान में रखते हुए वे पहले सिद्धान्त निर्माण करते थे और फिर उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर कृति को परखते थे, "शुक्लजी समीक्षा ग्रन्थ पढ़कर समीक्षा करने वाले व्यक्ति न थे, जैसा कि आजकल का चलन है।"[2] कृति पर सिलसिलेवार बात करते हुए वे कृति के सभी पक्षों को सिद्धान्तों की कसौटी पर कसकर ही आलोचक के रूप में अंतिम संतुष्टि प्राप्त करते थे।

पिछले कुछ समय से आलोचना का यह तरीका पूर्णतः बदला है। अब सिद्धान्तों पर कृति को कसने की बजाय या तो पहले कृति को ध्यान में रखकर सिद्धान्त निर्माण होता है या फिर एक सिरे से किसी कृति को उठाकर पुस्तक समीक्षा (Book Review), या पुस्तक व्याख्या कर दी जाती है। सामाजिक - राजनैतिक परिस्थितियों को समझकर रचना को सम्पूर्णता में परखने की प्रवृति लुप्त होती जा रही है। इसी कारण आलोचना गम्भीर हस्तक्षेप नहीं कर पा रही।

---

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 17

[2] नामवर सिंह, हिन्दी का गद्यपर्व, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 115

आलोचना लिखी तो खूब जा रही है लेकिन संकट यह है कि उसे लिखने के पीछे निर्मित प्रतिमान नहीं है। बल्कि रचना के ब्यौरों का ही अनुसरण करते हुए आलोचक वर्णन भर करता है। रचना भी प्रशंसा चाहती है, मूल्यांकन नहीं। लेखक को स्थापित करने के लिए आलोचना रचना केन्द्रित न रहकर रचनाकार केन्द्रित हो रही है, "जब आलोचक यह समझने लगता है कि उसकी चर्चा से लेखक स्थापित होते हैं और उसकी उपेक्षा से वे अंधेरे में डूब जाते हैं तो, स्पष्ट है, आलोचना अपना बुनियादी काम नहीं कर पा रही होती है।"[1] जबकि आलोचक का काम रचना को रास्ता दिखाना है, रचनाकार के बोध को जगाना है।

सवाल यह है कि क्या पुराने प्रतिमानों के आधार पर नई रचनाओं की समीक्षा संभव है? शायद नहीं। इसी कारण आज रचना के साथ - साथ आलोचना का स्वरूप भी बदल रहा है। रचना के बदलते स्वरूप के समकक्ष आलोचना के प्रतिमान खड़े नहीं किए गए जो चिंतनीय है, "रचना की नई संवेदना की परख के लिए आलोचना के नए प्रतिमानों और औजारों की जरुरत पड़ती है।"[2] रचना में आए बदलाव व उभरते नए विमर्शों के साथ - साथ नई आलोचना प्रणाली विकसित करने की जरुरत है, जिसके मूल में परम्परा का चिंतन तो हो ही, नए विचारों का खुलापन भी हो। क्योंकि, "नए प्रतिमान युग विशेष की रचनाशीलता से ही बनते हैं और पृष्ठभूमि में परंपरा होती है।"[3]

नई रचना का मूल्यांकन पुराने प्रतिमानों के आधार पर नहीं किया जा सकता। रचनाशीलता के समानांतर आलोचना के प्रतिमानों का निर्माण होता है। अपने समय की चुनौतियों तथा चिंताओं के बरक्स ही आलोचना के औजार तय होते हैं। आलोचक अपनी प्रखर दृष्टि से पुराने प्रतिमानों को नया रूप भी दे सकता है और समयानुसार नए प्रतिमानों का निर्माण भी करता है। जब समय तथा परिस्थितियों के साथ रचना में बदलाव आया है तो आलोचना तथा आलोचनात्मक प्रतिमानों का बदलना लाजिमी लगता है। लेकिन आज की आलोचना ना तो

---

[1] मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, भूमिका से

[2] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 23

[3] वही, पृष्ठ - 11

पुराने प्रतिमानों को कारगर मानती है और ना ही नए प्रतिमानों की स्थापना कर पा रही है। इसीलिए आलोचना अपने समय को पकड़ने में अक्षम नजर आती है।

मैनेजर पाण्डेय आज की हिंदी आलोचना पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि "हिंदी में पांच प्रकार की आलोचनाएं प्रचलित हैं, पहली है अखबारी आलोचना, दूसरी पुस्तक समीक्षा, तीसरी अध्यापकीय आलोचना, चौथी आस्वादपरक आलोचना जो पत्रिकाओं से लेकर व्याख्याओं तक में पायी जाती है और पांचवी है परा - आलोचना या साहित्य - सिद्धांत। हिंदी में जिसे साहित्य की मुख्यधारा कहा जाता है उसमें साहित्य - सिद्धांत का पूरी तरह अकाल ही है। पहले उपनिवेशवाद के कारण और अब भूमण्डलीकरण के प्रभाव में जैसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उधार से काम चलाने की हमारी आदत बन गई है, उसका विस्तार साहित्य की आलोचना में है और साहित्य - सिद्धांत में भी।"[1] हिंदी आलोचना में सुविधा - सिद्धांत की प्रवृत्ति बढ़ रही है। अगर आलोचक को किसी विधा में रुचि नहीं होती वह उस विधा को ही खारिज कर देता है। आज के आलोचक जब किसी प्रतिमान का निर्माण नहीं कर पाते तो वे प्रतिमानीकरण को ही गलत ठहराते हुए उससे मुंह मोड़ लेते हैं। जबकि बिना किसी प्रतिमान के कोई आलोचना हो ही नहीं सकती। प्रतिमानीकरण के अभाव में, "निराधार आलोचना अपनी आलोचनात्मक क्षमता खो बैठी"[2] है, जो समकालीन साहित्य तथा आलोचना दोनों के लिए खतरनाक है।

5.3 विचारधारा का विलोपीकरण

आलोचना की दृष्टि को विचारधारा प्रभावित करती है तथा उससे प्रभावित भी होती है। वैचारिक प्रतिबद्धता के कारण गोदान, झूठा - सच, तमस, आधा गांव, मैला आंचल, रागदरबारी जैसी लोकप्रिय व विचारधारात्मक रूप से सुदृढ रचनाएं अपने समय से आज तक प्रासंगिक हैं। उत्तर - आधुनिक दौर में किसी विचारधारा के तहत ही विचारधाराओं से मुक्ति की बात की जाती है। विचारधारा शब्द आलोचना में आतंक की तरह समझा जाने लगा है। जबकि विचारधारा

[1] मैनेजर पाण्डेय, आलोचना में सहमति असहमति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 11

[2] नामवर सिंह, आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना, गद्यकोश, 11.5.2016

आलोचना के लिए श्वास का काम करती है। बिना विचारधारा के आलोचना मात्र वर्णन या गप्प रह जाती है, "बिना विचारधारा के आलोचना सहृदय प्रशंसा से अधिक कुछ ना रह जाएगी।"[1]

विचारधारा मात्र कोई कट्टर सिद्धांत नहीं बल्कि एक नजरिया है जो समय और परिस्थितियों के बीच संघर्ष से निर्मित होता है। विचारधारा हमारी चेतना का हिस्सा है जिससे हम किसी भी चीज को देखते, समझते तथा अभिव्यक्त करते हैं। रचना में किसी - न - किसी रूप में विचारधारा मौजूद रहती है, जिसका सही मूल्यांकन विचारधारा से समृद्ध आलोचना द्वारा ही हो सकता है।

समकालीन समय में विचार की जगह सूचनाओं ने ले ली है, जिसमें रचना का मूल्यांकन करने की बजाय उसे विज्ञापित करने पर जोर अधिक रहता है। सूचना के आदान - प्रदान में रचना में वर्णित घटनाओं की पृष्ठभूमि नदारद हो जाती है। इसी कारण आज आलोचक रचना के पक्ष के लिए कोई रिस्क लेने की बजाय सुरक्षित कोनों में सिमटकर आलोचनात्मक संतुलन बनाने की कोशिश में लगे हैं। गम्भीर आलोचना का स्थान परिचयात्मक व प्रशंसात्मक आलोचना ने ले लिया है, "पुस्तक समीक्षा, अखबारी आलोचना और गंभीर आलोचना को गड्ड - मड्ड करके देखा जा रहा है।"[2] विचार और इतिहास से कन्नी काटकर आलोचक समझौतावादी लेखन कर रहे हैं। विचारधारात्मक संतुष्टि के लिए मार्क्स, ग्राम्शी, लुकाच, टेरी ईगलटन की परिभाषाओं की परत चढ़ाते - चढ़ाते आलोचक स्वयं उसमें कहीं गुम हो जाता है।

साहित्यिक कृति के मूल्यांकन के लिए विचारधारा अनिवार्य है। लेकिन सिर्फ किसी विचारधारा को कट्टरता के साथ कृति पर थोपना भी उतना ही नुकसानदेह होगा जितना बिना विचारधारा के कृति का मूल्यांकन करना। जरुरत यह है कि रचना की भांति आलोचना भी सम्वेदनशील होकर परम्परा के बोध के साथ वर्तमान के प्रति जागरुक हो। आलोचना का काम है तर्क और विचार के साथ रचनाकार और पाठक दोनों को सही रास्ता दिखाना, आलोचना,

---

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, जुलाई - अगस्त, 2011, (युवा आलोचना अंक), पृष्ठ - 18

[2] वही, पृष्ठ - 30

"स्वायत्तता का खुला आंगन नहीं जहां सबके लिए पलक - पांवड़े बिछे हों। अगर हमें अपने दौर के सबसे मूल्यवान साहित्य का चयन करना है तो इसका अर्थ साहित्य के नाम पर आ गए बहुत सारे लेखन को छानना भी है।"[1]

समकालीनता के नाम पर आलोचना इतिहास तथा परम्परा निरपेक्ष हो रही है। यह सही है कि आलोचक वर्तमान की आंख से समकालीन रचना को देखता - समझता है लेकिन अतीत की स्मृति से विहिन आलोचना वर्तमान का मूल्यांकन करने में असमर्थ होती है। प्रत्येक युग की आलोचना का यह भी दायित्व है कि वह अतीत की महत्त्वपूर्ण कृतियों की सार्थकता की व्याख्या समकालीन संदर्भों में करे, "हिंदी आलोचना का वर्तमान अगर संकटग्रस्त है तो इसके कारणों की पहचान होनी चाहिए। इस संकट का सबसे बड़ा कारण है आलोचना में साहित्यिक को सामाजिक से अलग समझने और मानने की प्रवृत्ति। इसी प्रवृत्ति के कारण आलोचनात्मक व्यवहार के दौरान राजनीति, विचारधारा और सभ्यता के सवालों को साहित्य की आलोचना से बाहर कर दिया गया है।"[2]

विचारधारा रचना तथा आलोचना की रीढ़ होती है जिसके आधार पर उनकी उपयोगिता तय होती है तथा परम्परा में स्थान निर्धारण होता है। उत्तर - आधुनिकता के दौर में इस रीढ़ के टूटने से आलोचक को व्यर्थ की टीका - टिप्पणी करने की खूल मिली है, जो आलोचना में द्वंद्व पैदा करती है। अपनी सार्थकता बनाए रखने के लिए आलोचना को विचारधारा के स्तर पर गम्भीर होना होगा, "अच्छी आलोचना शैतान को भी उसका वाजिब हक देती है और जब - तब इसके लिए उसे भरपूर वैचारिक संघर्ष भी करना होता है।"[3] विचारधारात्मक आधार ग्रहण करके ही आलोचना समृद्ध तथा प्रभावशाली बन सकती है।

---

[1] शंकर (सम्पा.), परिकथा, जुलाई - अगस्त, 2011, (युवा आलोचना अंक), पृष्ठ - 17

[2] मैनेजर पाण्डेय, आलोचना में सहमति असहमति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 21

[3] मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, भूमिका से

5.4 प्रतिरोध का बदलता स्वरूप

जब कभी भी समाज पर संकट आया है साहित्य उससे पूरी तरह प्रभावित हुआ है और कहीं न कहीं उस संकट से उभरने का रास्ता भी साहित्य ने सुझाया है। लेकिन, "उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण की आंधी ने पूंजी को सबसे ऊंचा स्थान दिया है। इस आंधी ने एक आभासी दुनिया भी बनाई। इस आभासी दुनिया ने युवा पीढ़ी को सर्वाधिकार प्रभावित किया है। युवा पीढ़ी के असंतोष एवं विद्रोह दिनोदिन समाप्त होते जा रहे हैं। यदि किसी बात को लेकर उसकी बेचैनी है तो किसी वस्तु को लेकर नहीं और न ही विचार या आदर्श को लेकर व्यक्ति अपनी जड़ से कटता जा रहा है। समाज से विच्छिन्न हो रहा है। ऐसा होना भयानक समय से गुजरने के समान है।"[1] आज का बुद्धिजीवी वेडगेंस्टाइन के सूत्र 'Don't think, Look' पर चल रहा है, देखने का काम तो किया जा रहा है, पूरा परिप्रेक्ष्य लेखक के सामने है। लेकिन नून - तेल की चिंता में फंसा हुआ लेखक न सोचने का काम कर पा रहा है न बोलने की हिम्मत। प्रेमचंद की पंक्ति 'जब गर्दन दूसरों के पैरों तले दबी हो तो उन पैरों को सहलाने में ही समझदारी है।' को आज का लेखक ठीक से समझ रहा है। अपनी गर्दन को बचाने के लिए वह सत्ता के क्रूर पंजों को सहला रहा है।

आलोचक विरोध की क्षमता खोता जा रहा है, "आज अच्छे - खासे लोग धर्म, मजहब, वेद, कुरान आदि पर कुछ कहते हुए कांप जाते हैं। एक सलमान रुश्दी का जो हश्र हुआ उसके बाद क्या मजाल है कि कोई दूसरा लिखे। और ऐसे हालात में आप पूछते हैं कि आलोचक क्या लिखे? इसलिए मैंने कहा कि कवि कर्म के साथ आलोचना कर्म की भी कठिनाइयां बढ़ी हैं, मुश्किलें बढ़ी हैं।"[2] समाज के भीतर जो टकराहट चल रही है सबसे पहले लेखक को उसे पहचानना होगा, तभी वह इस पर अपनी राय व्यक्त कर सकता है, "जब तक आन्तरिक संघर्ष स्पष्ट, मुखरित एवं व्यवस्थित नहीं होगा, तब तक अभिजात्यशील से 'इतर' को बचाने की लड़ाई चल नहीं सकती। पारम्परिक मार्क्सवादी भाषा में कहें तो साहित्य में मानसिक आजादी बनाये रखने की लड़ाई में

---

[1] लीलाधर मंडलोई (सम्पा.),नया ज्ञानोदय, अंक - 148, जून - 2015, पृष्ठ - 109

[2] नामवर सिंह (सम्पा. आशीष त्रिपाठी), आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 175

'कामिया' को अपने भीतर 'सर्वहारा चेतना' विकसित करनी ही होगी। नहीं तो जिसका हमें प्रतिरोध करना है वह हमें इतना मोहक लगने लगेगा कि हम दिये की तरफ जाने वाले पतिंगे की तरह हो जाएंगे और जलकर भस्म हो जाएंगे।"[1]

आज के समय में दुश्मन सीधा - सीधा सामने नहीं है, वह अलग - अलग वेश धारण करके शोषण कर रहा है इसीलिए आलोचक वर्चस्वशाली ताकतों को चेतावनी नहीं दे सकते। दुश्मन/शोषक की ठीक से पहचान न कर पाने के कारण ही आलोचना की कठिनाइयां बढ़ी हैं। प्रतिरोध के स्तर बदले हैं, हाशिए के समाज का मुख्यधारा के समाज से प्रतिरोध, स्त्री, दलित का अपनी पहचान के लिए प्रतिरोध, पूंजीवादी भूमण्डलीकरण की नीतियों से प्रभावित लोगों का प्रतिरोध। साहित्य तथा आलोचना में यह प्रतिरोध अप्रत्यक्ष रूप से मौजूद है, जो अस्मितावादी साहित्यालोचना में कहीं - कहीं मुखर रूप में सामने आया है।

साहित्यिक कृतियों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण पदक पाना हो चुका है, पदक पाने वाला साहित्यकार ही बाजारवादी व्यवस्था में स्थान बना पाता है। इसीलिए साहित्यकारों द्वारा पदक लौटाकर विरोध भी दर्ज करवाया जा रहा है। सामूहिक रूप से पदक लौटाना प्रतिरोध का नया स्वरूप ही है। अरुंधति राय ने अपना पदक लौटाते हुए प्रतिरोध स्वरूप एक बयान जारी किया कि "मुझे देश के लेखकों, फिल्मकारों और शिक्षाविदों द्वारा शुरु किये गये एक राजनैतिक आंदोलन का हिस्सा होने का मौका मिल रहा है। वे एक प्रकार की वैचारिक क्रूरता और हमारी सामूहिक बौद्धिकता पर हमले के विरुद्ध उठ खड़े हुए हैं। यदि इसका मुकाबला हमने अभी नहीं किया तो यह हमें टुकड़े - टुकड़े कर बहुत गहरे दफन कर देगा। मेरा मानना है कि कलाकार और बुद्धिजीवी इस समय जो कर रहे हैं वह अभूतपूर्व है जिसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं है।"[2] आज रचनाकार रचना से ज्यादा महत्त्व पा रहा है, जितना प्रभावशाली व्यक्ति उतना ही प्रभावशाली उसका लेखन। व्यक्ति को महत्त्व देने वाली नई संस्कृति में लेखक गोष्ठियों, सम्मेलनों का बहिष्कार करके विरोध

---

[1] बद्री नारायण, प्रतिरोध की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 40

[2] उमा रमण (सम्पा.), देश - विदेश, अंक - 22, पृष्ठ - 13

प्रकट कर रहे हैं। विश्व हिंदी सम्मेलन (भोपाल, भारत) में बहुत सारे हिंदी लेखकों का न शामिल होना तथा समानांतर गोष्ठियां करना इसी विरोध का एक नया स्वरूप है।

साहित्यिक प्रतिरोध के कमजोर होने का एक कारण लेखक संगठनों की कमजोर होती भूमिका भी है। कालांतर में जो लेखक संगठन अपनी राजनैतिक समझ के साथ हरेक जगह हस्तक्षेप करते थे आज उनके मुद्दे बदल गए हैं। संगठन की कार्यप्रणाली तथा शक्तियां कुछ व्यक्तियों तक सिमटकर रह गई हैं और व्यक्तिगत लाभ - हानि के गणित में मुख्य मुद्दे पीछे छूट रहे हैं। तालमेल के अभाव में सत्ता पर कोई दबाव ये संगठन नहीं बना पा रहे हैं। सत्ता के हस्तक्षेप ने लेखकों तथा लेखक संगठनों पर नकेल कसकर उनकी आवाज को दबाने का काम किया है।

5.5 संस्कृतिमूलक चिन्तन/ बहुसांस्कृतिकता

दुनिया की अलग - अलग भाषाओं में एक ही समय में जहां 'शेली' और 'कीटस' जन्म लेते हैं, वहीं रवीन्द्रनाथ टैगोर पैदा होते हैं। दुनिया के एक कोने में बुद्ध का जन्म होता है, तब दूसरे कोने में ईसामसीह पैदा होता है। मुसलमानों के साथ ही उर्दू आती है और मुगल - कलम की चित्रकारी पैदा होती है। यूरोप से भारत के संपर्क से यहां की विचारधारा पर विज्ञान का प्रभाव पड़ता है, जिससे अनेक सुधारकों का जन्म होता है। दो जातियों या संस्कृतियों के मिलन से एक नई धारा निकलती है, जिसका असर दोनों पर पड़ता है। मिलन और संघर्ष की यह प्रक्रिया ही संस्कृति की जान है जो उसे जिन्दा रखती है। हम संस्कृति की परिभाषा नहीं दे सकते, उसके लक्षणों से उसे पहचान सकते हैं। संस्कृति एक गुण की तरह हमारे अंदर व्याप्त है। संस्कृति का स्वरूप व्यापक होता है, जो सब - कुछ समाहित करने की क्षमता रखता है। रामधारी सिंह दिनकर का मानना है कि 'कूपमंडूकता और दुनिया से रूठकर अलग बैठने का भाव संस्कृति को ले डूबता है।'

साहित्य हमेशा से संस्कृति के केंद्र में रहा है, और साहित्य के केंद्र में रही है संस्कृति। भारतीय परम्परा में रविन्द्रनाथ टैगोर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिनकर, वासुदेवशरण अग्रवाल आदि का चिंतन संस्कृतिमूलक चिंतन है। आलोचना के केंद्र में संस्कृति के आ जाने से साहित्य की आलोचना सांस्कृतिक हो गई है, "संस्कृतिवाद ने साहित्य की आलोचना को भी प्रभावित किया।

संस्कृतिवाद ने जिस तरह संस्कृति को संकुचित किया, उसी तरह उसने साहित्य की आलोचना को भी संकुचित किया। संस्कृतिवाद की शब्दावली में कहें तो संस्कृति ने साहित्य की आलोचना को संस्कृत - सुसंस्कृत किया।"[1] और आलोचना सांस्कृतिक हुई।

समाज, साहित्य, संस्कृति एक - दूसरे में समाहित तथा प्रभावित होते हैं, अतः किसी एक की व्याख्या पूरी संस्कृति की व्याख्या बन जाती है। अब कोई एक भारतीय संस्कृति नहीं बल्कि टुकड़ों में चिंतन हो रहा है। संस्कृति सम्बन्धी कोई केन्द्रीय कल्पना नहीं। आज संस्कृति के भिन्न - भिन्न रूप हमारे सामने हैं जिसमें संस्कृति के समूह हैं - आदिवासी संस्कृति, बाजारु या उपभोक्तावादी संस्कृति आदि रोज बनते - बदलते हैं। आलोचना संस्कृति की व्याख्या के साथ - साथ नई संस्कृति के निर्माण का काम भी करती है। ग्राम्शी ने लिखा है, "आलोचना का एक दायित्व नयी संस्कृति के लिए संघर्ष भी है। वह नयी संस्कृति साहित्य की भी होगी और समाज की भी।"[2] गुण - दोष विवेचन के बाद साहित्यिक बनी आलोचना अब सांस्कृतिक आलोचना हो गई है, "वर्तमान व्यवस्था में आलोचना का कर्म व्याख्या विश्लेषण तक सीमित न रहकर बहुत - कुछ एक सामाजिक या सांस्कृतिक कर्म है।"[3]

संस्कृति की आलोचना निरंतर हो ही रही है, अब जरुरत आलोचना की संस्कृति के निर्माण की है, "आलोचना की संस्कृति को ठीक से समझने के लिए संस्कृति की आलोचना जरुरी है और संस्कृति की आलोचना का पहला चरण है संस्कृतिवाद की आलोचना।"[4] संस्कृति की आलोचना का अर्थ उसके सभी पक्षों की आलोचना से है क्योंकि "प्रायः संस्कृति के दस्तावेज बर्बरता के भी दस्तावेज होते हैं। ऐसी स्थिति में जब संस्कृति संबंधी सोच में केवल समरसता, समन्वय और सामंजस्य की खोज होती है और दमन, भेदभाव, अधीनता और अन्याय की उपेक्षा होती है तब संस्कृति की आधी - अधूरी समझ पैदा होती है।"[5]

---

[1] नामवर सिंह, आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना, गद्यकोश - 11.5.2016

[2] मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 15

[3] नामवर सिंह (सम्पा. आशीष त्रिपाठी), आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 198

[4] नामवर सिंह, आलोचना की संस्कृति और संस्कृति की आलोचना, गद्यकोश - 11.5.2016

[5] मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, भूमिका से

पिछले कुछ वर्षों में पूंजीवादी भूमण्डलीकरण के उदय के कारण व्यावसायिक, नकल तथा विरुपीकरण की संस्कृति बढ़ी है, जिसने संस्कृतिविदों के लिए चिंता पैदा की है। परिणामस्वरूप सांस्कृतिक विमर्श सजग तथा व्यापक हुआ है।

5.6 भाषायी चिन्तन

भाषा व्यक्ति को अभिव्यक्त करती है, उसे मनुष्य बनाती है। भाषा ही उसे अन्य प्राणियों से भिन्न तथा श्रेष्ठ बनाती है। भाषा चूंकि विचार - विनियम का साधन है इसलिए भाषा की संरचना को समझे बिना विचार को समझना संभव नहीं। भाषा सिर्फ अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं है बल्कि सामाजिक संरचना का आधार भी है, "भाषाओं का प्राय दुहरा चरित्र होता है। सम्प्रेषण का माध्यम होने के साथ वे संस्कृति की भी वाहक होती हैं।"[1] कार्लोस फूएन्ते के अनुसार, "भाषा संस्कृति की नींव है, वह अनुभवों का द्वार है, कल्पना की छत है, स्मृतियों का तहखाना है, प्रेम का शयनकक्ष है और उसमें संदेहों, अनिश्चितताओं और प्रश्नों की खिड़कियां हैं।"[2]

किसी भाषा का वर्चस्व उसकी राजनैतिक स्थिति के आधार पर बनता है। राजनैतिक - आर्थिक स्थितियां ही हमारी सांस्कृतिक स्थिति का निर्धारण करती हैं। शक्तिशाली वर्ग की भाषा कमजोर वर्ग पर थोपी जाती है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री केन हाल के अनुसार, "सांस्कृतिक और बौद्धिक विविधता के विनाश का सबसे खतरनाक प्रभाव भाषाओं के नाश पर पड़ रहा है। राजनीतिक रूप से वर्चस्वशाली भाषाएं और संस्कृतियां देशी भाषाओं एवं संस्कृतियों पर हावी हो रही हैं।"[3]

भाषायी चिंतन में हिंदी और अंग्रेजी का सवाल हमेशा उठता रहता है। अंग्रेज शासकों ने सिर्फ सत्ता ही नहीं हथियाई, जनता के दिमागों पर भी कब्जा किया तथा उनके अंदर भाषायी भेद पैदा किया। भाषा के स्तर पर ही लोग अपना स्तर निर्धारित करने लगे, "अंग्रेजों ने भाषा के बारे में जो नीति अपनाई, वह निश्चित तौर पर सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का नमूना थी। उन्होंने अपनी भाषा

[1] न्यूगी वा थ्योंगो, भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 1

[2] कार्लोस फूएन्ते, क्रिटिकल इंक्वायरी, समर प्रकाशन, मास्को, पृष्ठ - 616

[3] मैनेजर पाण्डेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 46

- नीति का इस्तेमाल न सिर्फ अंग्रेजी थोपने के लिए किया बल्कि अंग्रेजी को एक ऐसी भाषा बनाने के लिए भी किया, जो विभाजन के औजार की तरह इस्तेमाल हो सके। और वह विभाजन के औजार की तरह आज तक इस्तेमाल होती है। आज तक हिंदुस्तान में अंग्रेजी बोलने वालों को थोड़ा ऊंचा समझा जाता है और जिसे अंग्रेजी नहीं आती, उसे दूसरे दरजे का या उससे भी नीचे का समझा जाता है।"[1] हिंदी की हीनता का कारण प्रशासकीय भाषा अंग्रेजी को बनाना रहा, "शासकीय भाषा का परिप्रेक्ष्य एक ऐसे वर्णसंकर 'शासकीय अभिजात्य' से बनता है जो अंग्रेजी के बिना अपना प्रशासकीय नियन्त्रण स्थापित करने में अपने को अक्षम पाता है"[2] 'Knowledge is power, language is power.' के मद्देनजर अमेरिकी साम्राज्यवाद की कोशिश विश्वभर में अंग्रेजी भाषा का अत्यधिक प्रचार रहा है। क्योंकि सत्ता, ज्ञान तथा संस्कृति का भाषा से गहरा संबंध है।

भाषा का स्वरूप निरंतर बदलता रहता है। उत्तर - आधुनिक दौर में वैश्वीकरण के प्रभाव ने भाषाओं की दूरी को कम किया है, जिससे हिंदी के स्वरूप में तेजी से बदलाव हो रहे हैं, "आज नए बाजार की हिंदी देश भर में प्रचारित - प्रसारित हो रही है। टेलीविजन और फिल्मों में नई हिंदी आ रही है, जो न केवल अंग्रेजी, बल्कि मुम्बई या कलकत्ता जैसे स्थानों पर अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के तत्वों को भी समाहित कर रही है।"[3]

अधिकत्तर उत्तर - आधुनिकतावादी चिंतक भाषाशास्त्री भी हैं। जिनके चिंतन के फलस्वरूप पाठ तथा प्रतीकों पर बहस केन्द्रित हुई है। उत्तर - आधुनिकता के प्रभाव में भाषायी चिंतन में बदलाव आए हैं। अस्मिताओं के आधार पर अब स्त्री भाषा, दलित भाषा, आदिवासी भाषा आदि के सवाल भाषायी चिंतन के केंद्रीय सवाल बने हैं। भाषा को आधार बनाकर मानव सभ्यता के विकास की परम्परा को समझा जाने लगा है, "देश में भाषा की समस्या जिस तरह से

---

[1] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (सम्पा.), सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, शब्दसंधान, दिल्ली, पृष्ठ - 14

[2] बद्री नारायण, प्रतिरोध की संस्कृति,वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 58

[3] नामवर सिंह (सम्पा. आशीष त्रिपाठी), जमाने से दो - दो हाथ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 117

जटिल रूप लेती जा रही है, वह भाषा विज्ञान की ही चिंता का विषय नहीं रह गई है, वह स्वयं साहित्यकारों, राजनेताओं और सांस्कृतिक कर्मियों के लिए भी उतनी ही ज्वलन्त समस्या है।"[1]

भाषा और साहित्य का गहरा संबंध है, भाषा रचना का आधार है। भाषायी आधार पर ही रचना पाठकों द्वारा ग्राह्य होती है। लोक की बात को लोक की भाषा में ही समझाया जा सकता है, शासकीय भाषा में नहीं। इस बात को हिंदी के रचनाकार बहुत पहले ही पहचान चुके थे। पचास के दशक में रचनाकारों ने जनभाषा में रुचि दिखाई, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगल सिंह सुमन ने लोक के मुहावरे को अपनाया। रचना को लोक की भाषा ने प्रभावित किया, जबकि समकालीन साहित्यकार दो स्तरों पर एक साथ काम कर रहे हैं एक तरफ जहां लोकवृत उभर रहा है वहीं दूसरी तरफ रचनाएं भूमण्डलीकरण के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। रचना 'भाषा के काकटेल' में डूब रही है। शिष्ट साहित्य की मानक भाषा और लोक साहित्य की जनभाषा के साथ - साथ अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का भी सम्मिलन हो चुका है और ये सभी भाषाएं अलग - अलग रचनाकारों द्वारा या रचनाओं में प्रयोग होने की बजाय एक साथ सभी रूपों में प्रयोग हो रही हैं। आज के समय में विचारधारात्मक व भाषायी दीवारें गिर रही हैं। रचना की इस भाषा की तर्ज पर आलोचना की भाषा को बदलने की जरुरत महसूस करते हुए नामवर सिंह कहते हैं, "भाषा को जब तक हिंदी आलोचना नहीं तोड़ेगी तब तक वह एक ही जगह पर कवायद करती रहेगी। इसलिए रचनाकारों से हाथ जोड़कर मैं निवेदन करुंगा कि मित्रों, तुम लोगों ने तो अपनी भाषा तोड़ी है, हम आलोचकों को भी बताओ कि भाषा कैसे तोड़ी जाती है। जिस दिन यह भाषा तोड़कर हम नई भाषा बनाएंगे, आलोचना पढ़ने लायक होगी अन्यथा यह चोरों की या उनके गिरोहों की एक कूट भाषा बनेगी, जिसमें खग बोलेगा और खग ही सुनेगा।"[2]

5.7 नवमार्क्सवादी चिन्तन

सोवियत संघ के विघटन के बाद क्रांति की संभावनाएं समाप्त हुई या कर दी गई।

---

[1] नामवर सिंह (सम्पा. आशीष त्रिपाठी), आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 249

[2] वही, पृष्ठ - 179

मार्क्सवादियों ने नए सिरे से सोचना शुरु किया जिसमें लोगों के बीच जाकर उनकी चेतना का विकास करना उन्हें एकमात्र चारा नजर आने लगा, "80 से 1990 का कालखण्ड जो द लांग नाइण्टीज का निर्णायक कालखण्ड है, में विश्व मानवीय विकास के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण दुर्घटना होती है, वह है सोवियत रूस का पतन। प्रतिरोध एवं परिवर्तन के महान स्वप्न का भंग। इस घटना ने पूरी दुनिया में एक संशय एवं भय को जन्म दिया।"[1] उत्तर - आधुनिकता के बहाने मार्क्सवाद की पुनः व्याख्याएं होने लगी। बुद्धिजीवी मार्क्सवाद की प्रासंगिकता पर सवाल उठाने लगे रामाज्ञा शशिधर के अनुसार, "अब पुराने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का पुराने ढंग से इस्तेमाल कर काम नहीं चलाया जा सकता।"[2]

साहित्य में उभरते विभिन्न विमर्शों को नए तरीके तथा नजरिए से देखने - समझने की जरुरत महसूस की जाने लगी है। क्योंकि आज का कॉरपोरेट पूंजीवाद मार्क्स के औद्योगिक पूंजीवाद से पूर्णतः भिन्न है। देरिदा जो पहले मार्क्सवादी चिंतक थे बाद में उत्तर - आधुनिकतावाद के प्रहरी बने। मार्क्सवादी आलोचना के अंतर्गत जहां साहित्य की व्याख्या सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में की जा रही थी वहीं देरिदा ने 'विखण्डनवाद' में कृति के पाठ पर जोर दिया जो एक तरह से समग्रता का विरोध था। भूमण्डलीकरण तथा उदारीकरण से भारतीय व्यवस्था में बदलाव हुआ। सत्ता तथा समाज में बहुत सारी धाराएं एक साथ बहने लगी, जिसने केंद्र को तोड़ा, "80 - 90 के दौर में ही भारतीय जनतांत्रिक राजनीति फ्रैक्चर्ड होती है। सत्ता की केन्द्रीयता टूटती है। उपेक्षितों की राजनीति बलवती होती है, नए सामाजिक समूह भारतीय जनतांत्रिक राजनीति में महत्त्वपूर्ण होते जाते हैं। यह सब सामाजिक, राजनैतिक प्रक्रियाएं हमारे आलोचनात्मक चेतना और बोध एवं रचनात्मक स्फेयर में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ला रही थीं।"[3]

सभी राजनैतिक पार्टियों के बाद अब आलोचकों में पूंजीवाद की सर्वस्वीकृति बन रही है। पूंजीवाद के दुष्प्रभाव रचना तथा आलोचना में व्यक्त जरुर है लेकिन तीखा विरोध या वैकल्पिक

---

[1] बद्री नारायण, प्रतिरोध की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 53

[2] शंकर (सम्पा.), परिकथा, जुलाई - अगस्त, 2011, (युवा आलोचना अंक), पृष्ठ - 23

[3] बद्री नारायण, प्रतिरोध की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ - 53

व्यवस्था वहां मौजूद नहीं है। आलोचकों में सुधारवादी आंदोलनों के प्रति सहानुभूति जगी है, "प्रगतिशील आलोचकों ने ही इस बात की सबसे ज्यादा सुध ली कि वे नवजागरण या सुधारवादी साहित्य की परम्परा के मूल्यवान तत्वों को आत्मसात करें और उनकी शक्ति से पाठकों को परिचित करायें।"[1] जो मार्क्सवादी चिंतक/आलोचक समाजशास्त्र के विरोधी थे अब वही 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' लिखने लगे हैं। लोकवृत्त की बात साहित्य में बार - बार उठने लगी है। मार्क्सवाद का यह जो लचीला रूप है वह नवमार्क्सवाद ही है। पूंजी तथा बाजार के नए रूप को मनुष्य विरोधी बताने की बजाय आलोचक उसे कई मायनों में मनुष्य की आजादी का पक्षधर तथा सामंती मूल्यों के तोड़क के रूप में पेश कर रहे हैं, "अब पुराने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का पुराने ढंग से इस्तेमाल करके काम नहीं चलाया जा सकता। युवा आलोचना के सामने प्रधान अंतर्विरोध नवसाम्राज्य बनाम भारतीय आम जन का संघर्ष है।"[2] आलोचना में नव तथा उत्तर को फैशन के तौर पर इस्तेमाल किया जाने लगा है, जिसके बहाव में मार्क्सवाद भी बहने लगा है।

इस प्रकार उत्तरशती की आलोचना ने अनेक रूपों में बदलाव को ग्रहण किया है। इस समय में हुए बदलावों के तुरंत प्रभाव में आकर, नए का ग्रहण तथा पुराने के त्याग की प्रवृति के कारण आलोचना ने प्रतिमानीकरण से मुहं मोड़ लिया है। विज्ञापन के रूप में विकसित आलोचना पद्धति में सच कहने का साहस खत्म होता जा रहा है। पदनाम के लालच में आलोचक सीधा - सीधा विरोध दर्ज नहीं करवा पा रहा। सांस्कृतिक घालमेल तथा नए विमर्शों के उभार से बहुत सारी चीजों का पुनर्मूल्यांकन होने लगा है।

---

[1] शिव वर्मा (सम्पा.), नया पथ, जनवरी - जून:2012 (संयुक्तांक) में वैभव सिंह के लेख 'विचार का जनतन्त्र' से, पृष्ठ - 45

[2] शंकर (सम्पा.), परिकथा, अंक - 33 (युवा आलोचना अंक), जुलाई - अगस्त 2011, पृष्ठ - 23

उपसंहार

किसी भी कृति या वस्तु का समग्र मूल्यांकन करना आलोचना कहलाता है। गद्य - पद्य का जायजा लेकर उसे साहित्यिक परम्परा में स्थान दिलाने वाली आलोचना साहित्य की महत्वपूर्ण विधा है। यह साहित्य की व्याख्या के लिए सिद्धांत निर्माण करती है तथा उन सिद्धांतों के आधार पर कृति की जांच - पड़ताल में शामिल होकर उसके गुण - दोषों का विवेचन करती है। आलोचक रचना के आस्वादन के बाद उसके मूल्यांकन में प्रवृत्त होता है। कृति में व्याप्त युग परिवेश, उसके मूल्यों तथा अंतर्विरोधों की पहचान आलोचक करता है। कलात्मकता के आधार पर कृति का मूल्यांकन करके उसे पाठकों के लिए रोचकता तथा तार्किकता के साथ प्रस्तुत करता है। रचना तथा आलोचना एक - दूसरे के साथ सहयोग तथा टकराव से ही आगे बढ़ती है। रचना से सिद्धांत निर्माण का आधार ग्रहण करके आलोचना रचना के लिए नए आयाम खोलती है, उसे परम्परा में स्थापित करती है। आलोचना की इस प्रक्रिया के पीछे विचारधारा या दृष्टिकोण काम करता है। साहित्य में सामाजिकता, जीवन मूल्यों तथा उसकी सार्थकता का मूल्यांकन आलोचक किसी विचारधारा के तहत करता है। आलोचक का एक स्वतंत्र दृष्टिकोण होता है जो साहित्य की उपयोगिता को निर्धारित करता है, यह दृष्टिकोण ही साहित्य के मूल्यांकन का औजार होता है। हिंदी में साहित्य के मूल्यांकन के लिए मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणवादी, अस्तित्ववादी, भाषा वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, उत्तर - आधुनिकतावादी आदि दृष्टियां/सिद्धांत प्रचलित हैं।

हिंदी आलोचना का प्रारम्भ आधुनिक काल में हुआ। इससे पहले लक्षण - ग्रंथों की टिकाओं के रूप में काव्यालोचना होती थी। आधुनिक काल में शिक्षा के प्रसार तथा सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध चले आंदोलनों के साथ ही नवजागरण के आगाज ने साहित्य तथा आलोचना को प्रभावित किया। इस आंदोलन से जीवन तथा समाज में जो बदलाव आए उन्हें रचना तथा आलोचना ने आत्मसात किया। गद्य के प्रादुर्भाव, प्रेस की स्थापना तथा पाश्चात्य समीक्षा - सिद्धांतों के प्रभाव में आलोचना के प्रतिमानों की स्थापना होने लगी, जिसका संपूर्ण विकास शुक्ल युग में हुआ। शुक्ल जी ने आलोचना को उसके शीर्ष पर पहुंचाया तथा हिंदी साहित्य में इसे एक

स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित किया। जो आज सृजनात्मक साहित्य की एक विधा मानी जाने लगी है। हिंदी आलोचना के विकास की लम्बी परम्परा में भारतेंदु हरिश्चंद्र, चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन', बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विविवेदी, पदमसिंह शर्मा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शमशेर बहादुर सिंह, रामविलास शर्मा, अमृतराय, शिवदान सिंह चौहान, मुक्तिबोध, नेमिचंद्र जैन, रांगेय राघव, विजयदेव नारायण साही, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र, निर्मला जैन, विश्वनाथ त्रिपाठी, ओमप्रकाश ग्रेवाल, वीरभारत तलवार, कर्णसिंह चौहान, शंभुनाथ, पुरुषोत्तम अग्रवाल, रोहिणी अग्रवाल आदि प्रमुख हैं।

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अनेक राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन हुए। राज्य की नई नीतियों ने आमजन को प्रभावित किया, भूमण्डलीकरण के वेश में मुक्त पूंजी का आगमन हुआ। आर्थिक नीतियों के साथ ही सामाजिक तथा सांस्कृतिक बदलावों ने आकार ग्रहण किया। पूंजीवाद तथा उपभोक्तावाद ने जहां लोगों को गुमराह किया वहीं सूचनाक्रांति ने उनके लिए एक रहस्यमयी खिड़की को हमेशा के लिए खोल दिया। दलित, दमित जन ने मुक्ति के लिए संघर्ष तेज किया। इस संघर्ष में स्त्री, दलित, आदिवासी अपने भिन्न - भिन्न मुद्दों को लेकर शामिल हुए। समाज में हर स्तर पर मुक्ति के लिए आंदोलन उभरने लगे। साहित्य में ये आंदोलन एक विमर्श के रूप में नजर आए। स्त्री, दलित तथा आदिवासी जीवन पर केन्द्रित रचनाएं आने लगी। आलोचना ने इस लेखन को सभी कोणों से देखा - समझा और व्यक्त किया।

स्त्री लेखन तथा आलोचना में अनामिका, कात्यायनी, मृणाल पाण्डेय, क्षमा शर्मा, सरला माहेश्वरी, प्रभा खेतान, सुधा सिंह, मृदुला गर्ग, नासिरा शर्मा, सुमन राजे, निर्मला जैन, रोहिणी अग्रवाल आदि ने अपने लेखन में स्त्री के अस्तित्व, देह की आजादी, प्रेम, वर्चस्व तथा समान अधिकारों के मुद्दे उठाए । आदिकालीन तथा मध्यकालीन साहित्य की स्त्री विमर्श के नजरिए से पुनर्व्याख्याएं होने लगी। मीरा, सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी के साहित्य में रहस्य तथा पीड़ा की

जगह विद्रोह तथा चेतना को खोजा जाने लगा। घरेलू तथा दोयम दर्जे का कहा जाने वाला स्त्री लेखन मुख्यधारा का साहित्य बनकर उभरा।

दलित चिंतकों जोतिबा फुले, आम्बेडकर आदि से प्रेरणा ग्रहण कर दलित आंदोलन तथा लेखन की रफ्तार तेज हुई। दलित आत्मकथा ने दलित जीवन का प्रमाणिक दस्तावेज पेश किया जिससे आलोचकों की दलित साहित्य के प्रति गम्भीरता बढ़ी। दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र, स्वानुभूति नाम सहानुभूति, सामाजिक न्याय तथा बराबरी, संपत्ति के साधनों मे भागीदारी की मांग आदि मुद्दे दलित साहित्य की पहचान बने जिसे बाद में आलोचना ने व्याख्यायित किया। ओमप्रकाश वाल्मीकि, डा. धर्मवीर, कंवल भारती, डा. एन. सिंह, मोहनदास नैमिशराय, सुशीला टाकभौरे, दयानंद बटोही, डा. तेजसिंह, विमल थोराट, गेल ओमवेट , बजरंग बिहारी तिवारी आदि ने दलित विमर्श तथा आलोचना को नया आयाम दिया।

विकास के नाम पर आदिवासी क्षेत्रों में हो रहे अंधाधुंध दोहन तथा अधिग्रहण ने आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल किया। उनकी संस्कृति ,सामूहिक जीवनशैली, परम्परा आदि पर हमले ने उन्हें संघर्ष के लिए मजबूर किया। यूरेनियम, कोयला, बाक्साइट, माइका, लोहा, तांबा, मैंगनीज आदि के दोहन के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा आदिवासियों की जीवनशक्ति जल, जंगल और जमीन पर कब्जा करके उन्हें नष्ट किया। अपने संसाधनों को बचाने के लिए संघर्षरत्त आदिवासियों ने साहित्यकारों को प्रभावित किया। हिंदी लेखन तथा आलोचना में आदिवासी विमर्श के मुद्दे तथा उनकी सांस्कृतिक विशिष्टता व्यक्त होने लगी। रमणिका गुप्ता, निर्मला पुतुल, रमेशचंद्र मीणा, रमेश सम्भाजी कुरे, ब्रह्मदेव शर्मा, दीपक कुमार, देवेंद्र चौबे आदि आदिवासी विमर्शकार तथा आलोचक हैं।

एक समय के बाद हरित क्रांति के दुष्प्रभावों, विश्व व्यापार संगठन की किसान विरोधी नीतियों, बढ़ती महंगाई, घटते उत्पादन, न्यूनतम समर्थन मूल्य न मिलने तथा बाढ़, सूखे की मार ने किसानों को तबाह किया। कर्ज के बोझ तले दबे किसान आए दिन आत्महत्या करने लगे। किसानों के संकट तथा बढ़ती आत्महत्याओं ने साहित्यकारों को प्रभावित किया तथा किसान की समस्या

और संघर्ष को साहित्य में जगह मिली। हालांकि किसान मध्यवर्गीय शहरी साहित्य का केंद्रीय विषय नहीं बन पाया फिर भी कुछ रचनाकारों संजीव, रामाज्ञा शशिधर आदि ने किसान केंद्रीत रचना तथा आलोचना की। हिंदी आलोचकों अशोक कुमार पाण्डेय, मैनेजर पाण्डेय, रामाज्ञा शशिधर आदि ने भूमि अधिग्रहण, विस्थापन तथा किसानों की आत्महत्या के मुद्दों को आलोचना में उठाया।

बाजार मनुष्य के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भूमण्डलीकरण के दौर में उपभोक्तावादी संस्कृति के चलते बाजार का प्रसार हुआ तथा बाजार का मनुष्य पर नियंत्रण बढ़ा, श्रम तथा संसाधनों की लूट बढ़ी। पूंजी के इस दौर में बाजार ने अपनी भूमिका बदली और बाजार एक घटक मात्र न रहकर विचारधारा बन गया जिसका नाम बाजारवाद पड़ा। बाजार ने मनुष्य में प्रतिस्पर्धा की भावना पैदा की फलस्वरूप वह त्याग की जगह संग्रह को महत्व देने लगा। बाजार ने विविधता को खत्म करके जीवनशैली में एकरुपता पैदा की। बाजार के प्रभाव में व्यक्ति स्वकेन्द्रित तथा औपचारिक होने लगा। उसके ज्ञान की जगह सूचना ने ले ली और सार्थकता की बजाय वह सफलता के पीछे भागने लगा। बाजार के प्रभाव ने साहित्य तथा आलोचना को काफी हद तक प्रभावित किया। एक तरफ जहां बाजार के प्रभाव में तथा बाजार के लिए लेखन होने लगा वहीं दूसरी तरफ बाजारवाद के खिलाफ भी आवाज उठने लगी। बाजार के मुख्य घटकों भूमण्डलीकरण, उपभोक्तावाद, सूचना प्रोद्यौगिकी तथा विज्ञापन संस्कृति पर कमल नयन काबरा, अरुण त्रिपाठी, रमेश उपाध्याय, आनंद प्रकाश, मैनेजर पाण्डेय, विजय कुमार, मृत्युंजय सिंह, अरुण होता आदि आलोचकों ने गम्भीरता से लिखा है।

मनुष्य के जीवन का आधार भूमि, जल, जंगल आदि आज विकास के नाम पर नष्ट किए गए। मनुष्य की बढ़ती जरुरतों ने पर्यावरण के साधनों के दोहन को जन्म दिया। रोज बनते नए - नए उद्योग, उपज बढ़ाने के नाम पर कीटनाशकों का अत्यधिक प्रयोग, बढ़ते शहरीकरण ने फसलों तथा फूलों की खुशबू की जगह धुएं तथा तेल की बदबू हमारे नथूनों में भर दी। पर्यावरण ह्रास के कारण बिगड़ते संतुलन के परिणामस्वरूप सूखा, बाढ़, बेमौसमी बरसात, हिमस्खलन, भूकम्प,

सूनामी आदि ने मनुष्य के जीवन को तबाह किया। पर्यावरण ह्रास के कारण मनुष्य के जीवन पर आए संकट की चिंता साहित्य तथा आलोचना में अभिव्यक्त हुई है। लहलहाती फसलों, बहती नदियों, झूमते पेड़ों की जगह आज साहित्य में बर्बाद होती फसलों, कटते पेड़ों, सूखती नदियों तथा लुप्त होते पक्षियों की चिंता है। साहित्य की तुलना में आलोचना में यह चिंता बहुत कम है। पारिस्थितिक संकट पर केन्द्रित साहित्य की छिटपुट लेखों में आलोचना के. वनजा, भारत डोगरे, रमेश उपाध्याय, मैनेजर पाण्डेय, रोहिणी अग्रवाल आदि ने की है।

भारत के स्वतंत्रता संग्राम तथा उसके बाद साम्प्रदायिकता मुख्य समस्या रही है। भारत विभाजन के बाद बाबरी विध्वंश तथा गुजरात में दंगों के माध्यम से साम्प्रदायिक शक्तियों ने भय तथा आतंक के माहौल का निर्माण किया। साम्प्रदायिकतावादी विचारधारा ने इतिहास की विकृत व्याख्या पेश कर राष्ट्र, धर्म, संस्कृति, भाषा, क्षेत्र आदि का सहारा लेकर मनुष्यता को खत्म करने का काम किया है। प्रभु - वर्ग तथा राजनीतिज्ञों की पक्षधर जनमानस की विरोधी इस विचारधारा का विरोध साहित्यकारों तथा आलोचकों ने शुरु से किया है। विपिन्न चंद्रा, असगर अली इंजीनियर, नामवर सिंह, बद्री नारायण, रमेश उपाध्याय आदि साम्प्रदायिकता विरोधी विमर्शकार तथा आलोचक हैं।

उत्तरशती की आलोचना विभिन्न पड़ावों से होते हुए अपने रूप को बदलती गई। आलोचना ने कुछ नए मूल्यों, सिद्धांतों को ग्रहण किया तो पुराने मूल्यों से मुक्त हुई। उत्तर - आधुनिकता की पश्चिमी आंधी से आलोचना बच नहीं पाई और सूचना प्रौद्योगिकी तथा सोशल मीडिया के प्रभाव में तुरंत प्रसारित सूचनाओं को निगलने में असमर्थ रही। देश - दुनिया में हुई घटनाओं पर साहित्य के साथ ही आलोचना भी तत्काल अपनी प्रतिक्रिया जाहिर करने लगी। जैट युग ने आलोचक के धैर्य तथा समय को उससे छीन लिया, जिससे लम्बे समय तक शांतचित्त होकर साहित्य - सिद्धांतों का निर्माण करना उसके वश से बाहर की बात हुई। आलोचना की अखबारी संस्कृति के प्रभाव में आलोचक इतिहास तथा आलोचना प्रतिमानों से निरपेक्ष होकर अपनी राय पुस्तक समीक्षा के रूप में देने लगा, जिसका एक कारण विचारधारा का विलोपीकरण

भी है। आज के प्रतिद्वंद्वी समय में विचार की जगह सूचना ने ली है और आलोचक बहुत सारी विचारधाराओं के घालमेल को स्वीकार कर रहा है। आलोचक साहित्य तथा सत्ता दोनों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपना रहा है। कृति के बारे में सच कहने का साहस वह खोता जा रहा है जिस कारण आलोचना कृति का विज्ञापन मात्र बनती जा रही है। अब साहित्य तथा आलोचना के भीतर प्रतिरोध का स्वरूप बदल रहा है। सत्ता से सीधा टकराने का साहस साहित्य तथा आलोचना खो चुके हैं। साहित्य के संस्कृतिमूलक चिंतन को भूमण्डलीकरण ने बहुसांस्कृतिकता में बदल दिया है, जिससे संस्कृति संबंधी कोई केंद्रीय कल्पना आलोचना में देखने को नहीं मिलती। अस्मितावादी विमर्श तथा भाषायी चिंतन ने आलोचना में अपनी जगह बनाई है। बहुभाषा का मिश्रण तथा भाषा के नए सवाल स्त्री भाषा, दलित भाषा के रूप में उठने लगे हैं। इसी बीच मार्क्सवाद को अप्रासंगिक घोषित किया जा रहा है जिसकी परिणति नवमार्क्सवाद में हो रही है।

संदर्भ ग्रंथ - सूची

- अजय तिवारी, पश्चिम का काव्य विचार, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2003
- अनामिका, खुरदुरी हथेलियां, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2005
- अभय कुमार दुबे (सम्पा.), आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा सं. - 2004
- अभय कुमार दुबे (सम्पा.), साम्प्रदायिकता के स्त्रोत, विनय प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 1993
- अभय कुमार दुबे, भारत का भूमण्डलीकरण, विकासशील प्रकाशन, समाज अध्ययन पीठ एवं वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2003
- अभय कुमार दुबे, राजनीति की किताबः रजनी कोठारी का कृतित्व, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2003
- अशोक कुमार पाण्डेय, शोषण के अभ्यारण्य, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2010
- असगर अली इंजीनियर, भारत में साम्प्रदायिकताः इतिहास और अनुभव (अनुदित - सुभाष चन्द्र), इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. - 2003
- आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2008
- आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, महाकवि सूरदास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 1976
- आचार्य नन्दुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. - 2010
- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणिः भाग - 1, बी. पी. श्रीवास्तव इंडियन प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. - 1977
- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. - 2012

- आनन्द प्रकाश, सुभद्रा कुमारी चौहान की श्रेष्ठ कहानियां, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, सं. - 2005
- आम्बेडकर, सम्पूर्ण वाग्मय, खण्ड - 9, डा. आम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय भारत सरकार, दिल्ली, छठा सं. - 2013
- उदय प्रकाश, रात में हारमोनियम, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 1998
- उदयभानु सिंह, हरभजन सिंह, रविन्द्रनाथ श्रीवास्तव, साहित्य अध्ययन की दृष्टियां, मयूर पेपरबैक्स प्रकाशन, नोएडा, सं. - 2000
- उमा रमण (सम्पा.), देश - विदेश, पुस्तिका - 8, नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के दो दशक, देश - विदेश प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2014
- उमाशंकर चौधरी, कहते हैं तब शहंशाह सो रहे थे, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा सं. - 2011
- एमिल बर्न्स, मार्क्सवाद क्या है (अनुवाद - केशव देव), लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली, सं. - 2014
- एरिक हॉब्सबाम (अनु. प्रकाश दीक्षित), अतिरेकों का युगः इतिहास - 1914 - 1991, संवाद प्रकाशन, मेरठ, सं. - 2009
- एल. जी. मेश्राम, विमल कीर्ति (सम्पा.), महात्मा जोतिबा खुले रचनावली, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 1994
- एल. नटराजन, भारत के किसान विद्रोह (1850 - 1900), स्वर्ण जयंती प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2008
- ओंकारलाल मीणा (संयोजक), अनिरुद्ध कुमार, अनिल कुमार सिंह (सम्पा.), स्त्री साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2012

- ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2001
- कंवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, तीसरा सं. - 2004
- कमला प्रसाद, आलोचक और आलोचना, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्र. सं. - 2002
- कमला प्रसाद, रचना और आलोचना की द्वन्द्वात्मकता, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2001
- कमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, प्र. सं. - 2000
- कमलेश्वर, जो मैंने जिया, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, सं. - 2014
- कर्णसिंह चौहान, साहित्य के बुनियादी सरोकार, मेकमिलन प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 1978
- कल्पना दुबे, समकालीन हिन्दी कविता में विचार तत्व, हिमाचल बुक्स, दिल्ली, प्र. सं. - 2009
- कात्यायनी, दुर्ग द्वार पर दस्तक, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, तीसरा सं. - 2004
- कार्ल मार्क्स, पूंजी (खण्ड - 1), प्रगति प्रकाशन, मास्को, सं. - 1965
- कार्लोस फूएन्ते, क्रिटिकल इंक्वायरी, समर प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2006
- कालूराम परिहार, हिंदी आलोचना और डा. रामविलास शर्मा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिट्रीब्यूटर्स, प्र. सं. - 2009
- किशन पटनायक, किसान आन्दोलनः दशा और दिशा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2006

- कुंवरपाल सिंह (सम्पा.), साहित्य समीक्षा और मार्क्सवाद, पिपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, प्र. सं. - 1985
- कुमार विरेन्द्र, आदिवासी विमर्श और साहित्य, पेसिफिक पब्लिकेशंस, दिल्ली, प्र. सं. - 2013
- कृष्णदत्त पालीवाल, उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2008
- के. वनजा, साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2011
- कैलाश वाजपेयी, आधुनिकता का उत्तरोत्तर, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 1999
- गजानन माधव मुक्तिबोध, एक साहित्यिक की डायरी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2012
- गेल ओमवेट, दलित दृष्टि, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2011
- चंद्रकांत देवताले, भूखण्ड तप रहा है, संभावना प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 1982
- चंद्रबली सिंह, आलोचना का जनपक्ष, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2003
- चंद्रा सदायत (सम्पा.), लेखिकाओं की दृष्टि में महादेवी वर्मा, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2009
- चन्द्रा सदायत, सुभद्रा कुमारी चौहान की श्रेष्ठ कविताएं, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, सं. - 2006
- जगदीश्वर चतुर्वेदी (सम्पा.) स्त्री - अस्मिताः साहित्य और विचारधारा, आनंद प्रकाशन, कलकता
- जयपाल, दरवाजों के बाहर, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्र. सं. - 2010

- जवरीमल्ल पारख, आधुनिक हिंदी साहित्यः मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2007
- डा. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृति - 2013
- डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल, साहित्य और विचारधारा, आधार प्रकाशन, पंचकूला, सं. - 1994
- डा. के. एम. मालती, स्त्री विमर्शः भारतीय परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2010
- डा. नरेन्द्रदेव वर्मा, आधुनिक पाश्चात्य काव्य और समीक्षा के उपादान, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, प्र. सं. - 1971
- डा. बच्चन सिंह, आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2015
- डा. रतन कुमार पाण्डेय, आलोचना और आलोचना सिद्धांत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2008
- डा. रामबक्ष, समकालीन हिंदी आलोचक और आलोचना, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, प्र. सं. - 1991
- डा. रामविलास शर्मा, लोक जीवन और साहित्य, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, सं. - 1955
- डा. रामविलास शर्मा, लोकजीवन और साहित्य, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्र. सं. - 1955
- डा. ललिता कौशल, हिंदी दलित साहित्य और चिंतन, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, सं. - 2001

- डा. विनय कुमार पाठक, हिंदी साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2005
- डा. शंभुनाथ, मिथक और आधुनिक कविता, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र. सं. - 1985
- डा. शिवकुमार मिश्र, हिंदी आलोचना की परम्परा और आचार्य रामचंद्र शुक्ल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 1994
- डा. सत्या एम. राय (सम्पा.), भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सं. - 1983
- डा. सुधेश, साहित्य के विविध आयाम, नालंदा प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 1983
- डा. सुभाष चन्द्र (सम्पा.), आम्बेडकर से दोस्तीः समता और मुक्ति, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. - 2006
- डा. सुभाष चन्द्र, दलित आत्मकथाएं अनुभव से चिंतन, साहित्य उपक्रम, दिल्ली, प्र. सं. - 2006
- डा. सुभाष चन्द्र, दलित मुक्ति आन्दोलनः सीमाएं और संभावनाएं, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्र. सं. - 2010
- डा. सुभाष चन्द्र, साम्प्रदायिकता, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय सं. - 2008
- डा. सुभाष चन्द्र, हरियाणा की कविताः जनवादी स्वर, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2013
- डा. सुभाषचन्द्र, भीष्म साहनीः साहित्य और जीवन दर्शन, जतन प्रकाशन कुरुक्षेत्र, प्र. सं. - 2006
- तारकनाथ बाली, आलोचना प्रकृति और प्रवेश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय सं. - 1992

- दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे (सम्पादन), हाशिये का वृतांत, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्र. सं. - 2011
- देवराज उपाध्याय, आधुनिक कथा साहित्य और मनोविज्ञान, साहित्य भवन प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. - 1963
- देवीशंकर अवस्थी, आलोचना और आलोचना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 1995
- देवेन्द्र इस्सर, उत्तर आधुनिकताः साहित्य और संस्कृति की नई सोच, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 1996
- देवेन्द्र चौबे, आधुनिक साहित्य में दलित - विमर्श, आरियंट ब्लैकस्वान, दिल्ली, सं. - 2009
- नंदकिशोर नवल, हिन्दी आलोचना का विकास,राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2007
- नरेन्द्रदेव वर्मा, आधुनिक पाश्चात्य समीक्षा के उपादान, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, सं. - 1971
- नामवर सिंह (सम्पा. आशीष त्रिपाठी), आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2012
- नामवर सिंह (सम्पा. आशीष त्रिपाठी), जमाने से दो दो हाथ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. - 2011
- नामवर सिंह (सम्पा.), हजारीप्रसाद द्विवेदीः संकलित निबंध, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, सं. - 1993
- नामवर सिंह, आधुनिक हिंदी साहित्य की प्रवृतियां, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. - 1983

- नामवर सिंह, इतिहास और आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा सं. - 1962, पांचवी आवृति - 2011
- नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 1974
- नामवर सिंह, कहानीः नई कहानी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2014
- नामवर सिंह, छायावाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. 1955, बाहरवीं आवृति - 2013
- नामवर सिंह, दूसरी परम्परा की खोज, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2008
- नामवर सिंह, हिन्दी का गद्यपर्व, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2011
- निर्मला जैन, काव्य - चिंतन की पश्चिमी परम्परा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2006
- निर्मला जैन, हरिमोहन (सम्पा.), निबंधों की दुनियाः विजयदेव नारायण साही, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2007
- निर्मला जैन, हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 1992
- नेमिचन्द्र जैन (सम्पा.), मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड - 5, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 1980
- न्यूगी वा थ्योंगो, भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीय अस्मिता, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 1994
- परमानंद श्रीवास्तव (सम्पा.), समकालीन हिंदी आलोचना, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्र. सं. 1998, पुनर्मुद्रण - 2013
- पल्लव, कहानी का लोकतंत्र, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्र. सं. - 2011

- पी. रवि. (सम्पा.), कविता का वर्तमान, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. - 2010
- पुरुषोत्तम अग्रवाल, कबीरः साखी और सबद, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, प्र. सं. - 2007
- पुष्पपाल सिंह, भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. - 2012
- प्रदीप गायकवाड़ (सम्पा.), मा. रामगोपाल आजाद (अनु.), डा. बाबा साहेब आम्बेडकर के महत्वपूर्ण भाषण एवं लेख, समता प्रकाशन, नागपुर, प्र. सं. - 2005
- प्रेमचन्द, कुछ विचार, डायमण्ड पॉकेट बुक्स, दिल्ली, सं. - 2011
- बजरंग बिहारी तिवारी, दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा, नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद, प्र. सं. - 2015
- बद्री नारायण (सम्पा.), साहित्य और समय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2010
- बद्री नारायण, प्रतिरोध की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2012
- बैजनाथ सिंहल, उत्तर आधुनिकताः स्वरूप और आयाम, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, प्र. सं. - 2003
- बोधिसत्व, हम जो नदियों का संगम हैं, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2000
- ब्रह्मदेव शर्मा, आदिवासी विकासः एक सैद्धांतिक विवेचन, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, बानगंगा, सं. - 2012
- भगवानदास मोरवाल, काला पहाड़, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. - 2004
- मधुरेश, मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्र. सं. - 2011
- मधुरेश, हिन्दी आलोचना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. - 2012
- मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2009

- महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तीसरा सं. - 2001
- महादेवी वर्मा, संस्मरण, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, सं. - 2008
- मुरली मनोहर प्रसाद सिंह (सम्पा.), देवीशंकर अवस्थीः संकलित निबंध, नेशनल बुक ट्रस्ट, प्र. सं. - 2008, दूसरी आवृति - 2012
- मैनेजर पाण्डेय, अनभै सांचा, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2002
- मैनेजर पाण्डेय, आलोचना की सामाजिकता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2005
- मैनेजर पाण्डेय, आलोचना में सहमति असहमति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2013
- मैनेजर पाण्डेय, भरतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2013
- मैनेजर पाण्डेय, शब्द और कर्म, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2003
- मैनेजर पाण्डेय, संकट के बावजूद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा सं. - 2002
- मैनेजर पाण्डेय, संकलित निबंध, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2008
- मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. - 2013
- मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, पंचकूला, सं. - 2011
- यतीन्द्र मिश्र, ड्योढी पर आलाप, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. - 2006
- योगेन्द्र प्रताप सिंह, हिंदी आलोचनाः इतिहास और सिद्धांत, मैत्रेय पब्लिकेशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2009
- रणेन्द्र, ग्लोबल गांव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, सं. - 2005
- रमणिका गुप्ता (सम्पा.), आदिवासी कौन, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2008

- रमणिका गुप्ता (सम्पा.), आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2002
- रमणिका गुप्ता, हिंदी साहित्य में दलित संघर्ष के उन्नायकः डा. एन. सिंह, आकाश पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद, सं. - 2001
- रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपादक), परिवर्तन का परिप्रेक्ष्य और संभावना, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2013
- रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपादक), पूंजीवादी विकास और पर्यावरण आंदोलन, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2013
- रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपादक), बाजारवाद और नई सृजनशीलता, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2010
- रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपादक), सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, शब्दसंधान प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2010
- रमेश सम्भाजी कुरे (सम्पा.), आदिवासी साहित्यः विविध आयाम, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं. - 2013
- रमेशचंद मीणा, आदिवासी दस्तकः विचार, परम्परा और साहित्य, अलख प्रकाशन, जयपुर, प्र. सं. - 2013
- रविंद्र शर्मा, बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के हिंदी उपन्यासों में जीवन दृष्टि, के. के. पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2015
- रवि श्रीवास्तव, समाज और आलोचना, नेशनल पब्लिकेशन्स, जयपुर, प्र. सं. – 2005
- राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श, आधार प्रकाशन, पंचकूला, सं. - 2004
- राजेन्द्र यादव, अर्चना वर्मा, अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, राजकमल प्रकाशन, प्र. सं. - 2001

- राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2007
- राजोश जोशी, चांद की वर्तनी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2006
- राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2004
- रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2009
- रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 1984
- रामशरण जोशी, मीडिया और बाजारवाद, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2002
- रामाज्ञा शशिधर, किसान आन्दोलन की साहित्यिक जमीन, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, प्र. सं. - 2012
- रेने वेलेक (रुपांतकार इन्द्रनाथ मदान), आलोचना की धारणाएं, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, दूसरा सं. - 1990
- रोहिणी अग्रवाल, इतिवृत्त की संरचना और संरूपः पंद्रह वर्ष के प्रतिमानक उपन्यास, आधार प्रकाशन, पंचकूला, सं. - 2006
- लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य का इतिहास, राजपाल एण्ड सन्ज, नई दिल्ली, सं. - 2012
- लाल जी शुक्ल, सरल मनोविज्ञान, नंदकिशोर ब्रदर्ज प्रकाशन, वाराणसी, सं. - 1995
- लाल बहादुर वर्मा, भारत की जनकथा, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. - 2012
- विजय कुमार, अंधेरे समय में विचार, संवाद प्रकाशन, मेरठ, दूसरा सं. - 2010
- विजय कुमार, कविता की संगत, आधार प्रकाशन, पंचकूला, तीसरा सं. - 2012
- विनय विश्वास, आज की कविता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2009

- विनोद शाही, आलोचना की जमीन, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्र. सं. - 2011
- विपिन्न चन्द्रा, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता का विकास, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सं. - 1985
- विपिन्न चन्द्रा, साम्प्रदायिकता एक प्रवेशिका, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2008, आवृति - 2009
- विमल थोराट, दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, सं. - 2010
- विवेकी राय, मंगल भवन, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. - 2009
- विश्वनाथ त्रिपाठी, देश के इस दौर में, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2000
- विश्वनाथ त्रिपाठी, हिंदी आलोचना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 1970, आंठवीं आवृति - 2011
- विश्वनाथ प्रसाद चौधरी, भारत में साम्प्रदायिकता, आरिएंट पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सं. - 1991
- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, रचना के सरोकार, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 1987
- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य अकादमी, दिल्ली, प्र. सं. - 1989
- विष्णु खरे, आलोचना की पहली किताब, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय सं. - 2004
- वीरभारत तलवार, किसान राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रेमचन्दः1918 - 22, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. - 2008
- वीरेन डंगवाल, दुष्चक्र में स्त्रष्टा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2002
- शरण कुमार लिम्बाले, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. - 2000

- शिवकुमार मिश्र, दर्शन, साहित्य और समाज, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, प्र. सं. - 1981
- शिवकुमार मिश्र, प्रगतिवाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 1966
- शिवकुमार मिश्र, मार्क्सवादी साहित्य चिन्तनः इतिहास तथा सिद्धांत, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, सं. - 1973
- शिवदान सिंह चौहान, आलोचना के मान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 1967
- शिवदानसिंह चौहान, आलोचना के सिद्धांत,राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 1960
- संजीव, फांस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2015
- सम्पत ठाकुर, मुक्तिबोध पुर्मूल्यांकन, प्रगति प्रकाशन, आगरा, सं. - 1978
- साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, नारीवादी राजनीतिः संघर्ष एवं मुद्दे, हिंदी माद्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सं. - 2004
- सीमोन दी बोउवार (अनु. प्रभा खेतान), स्त्री उपेक्षिता, हिंद पॉकेट बुक्स, दिल्ली, सं. - 2004
- सुधा सिंह, ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ, ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2008
- सुधीश पचौरी, उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र. सं. - 2005
- सुधीश पचौरी, पॉपुलर कल्चर के विमर्श, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2011
- स्वयं प्रकाश, ईंधन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. - 2004
- स्वामी सहजानंद सरस्वती, किसान कैसे लड़ते हैं, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, दूसरा सं. - 2002
- हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. - 2005
- हरिराम मीणा (सम्पा.), समकालीन आदिवासी कविता, अलख प्रकाशन, जयपुर, प्र. सं. - 2013

पत्र - पत्रिकाएं

- अपेक्षा, तेजसिंह, दिल्ली
- आलोचना,अपूर्वानन्द, दिल्ली
- उद्भावना, अजेय कुमार, गाजियाबाद
- कथन, रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, दिल्ली
- कथादेश, हरिनारायण, दिल्ली
- तद्भव, अखिलेश, लखनऊ
- देश - विदेश, उमा रमण, दिल्ली
- देस हरियाणा, डा. सुभाषचन्द्र, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
- नया ज्ञानोदय, लीलाधर मण्डलोई, दिल्ली
- नया पथ, चंचल चौहान, मुरली मनोहर सिंह, दिल्ली
- परिकथा, शंकर, दिल्ली
- पल - प्रतिपल, देश निर्मोही, पंचकूला
- पहल, ज्ञानरंजन, जबलपुर
- पाखी, प्रेम भारद्वाज, नोएडा
- बयान, मोहनदास नैमिशराय, दिल्ली
- युग परिबोध, आनंद प्रकाश, दिल्ली
- रेत पथ, अमित मनोज, महेंद्रगढ़ (हरियाणा)
- वर्तमान साहित्य, नमिता, उत्तर प्रदेश
- वागर्थ, एकांत श्रीवास्तव, भारतीय भाषा परिषद, कोलकता

- समकालीन भारतीय साहित्य, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, चंद्रशेखर कंबार, के. श्रीनिवास राव, साहित्य अकादमी, दिल्ली
- समयांतर, पंकज बिष्ट, दिल्ली
- समीक्षा, सत्यकाम, दिल्ली
- हंस, संजय सहाय, दिल्ली
- जनसत्ता, मुकेश भारद्वाज, दिल्ली
- दैनिक ट्रिब्यून, हरिश खरे, चण्डीगढ़

वेबसाइटः

- विकीपीडिया
- गद्यकोश